

भाग
१२

श्रीवर्द्धमानाय नमः ।

अंक
११-१२

जैनहितैषी

नवंबर, दिसंबर १९१६.



जैनसमाज ।

तीर्थक्षेत्रोंके झगड़े, स्त्रियोंकी अज्ञानमय-दुःखमय दशा, शास्त्रोंकी रक्षा और प्रचारके काममें लापरवाही और अगुओंकी 'भेड़ियाधसान' बुद्धिके अन्धेर; ये सब बातें देखकर शासनदेवी धनवानों, पण्डितों और बाबुओंको सम्मिलित शक्तिसे उद्योग करनेके लिए समझा रही है ।

सं०-नाथूराम प्रेमी ।

विषय-सूची ।



- १ भद्रबाहु-संहिता (ग्रन्थपरीक्षा)-
लेखक, श्रीयुत बाबू जुगलकिशोरजी
मुस्तार । ५२१
- २ हिन्दी-जैनसाहित्यका इतिहास. ५४०
- ३ सभापतिका व्याख्यान-व्या०, श्रीयुत
बाबू माणिकचन्द्रजी जैन बी. ए. एल
एल. बी. वकील-— ५६९
- ४ लड़ना धर्म है या क्षमाभाव रख-
ना-ले०, श्रीयुत वाडीलाल मोतीलाल शाह ५८९
- ५ स्याद्वाद महाविद्यालयकी भीतरी
दशा—ले०, श्रीयुत बाबू निहालकरण
सेठी एम. एस. सी. ५९५
- ६ उन्माद (कहानी)- ले०, श्रीयुत बाबू
पदुमलाल बक्षी बी. ए. ५९९
- ७ विधवा-विवाह विचार ६०२
- ८ विविध प्रसङ्ग ६१०
- ९ अहिंसाका अर्थ (कविता)—ले०
श्रीयुत प० रामचरित उपाध्याय ... ६२३
- १० विश्वप्रेम (कविता) ले० श्रीयुत बाबू
मोतीलाल जैन बी. ए. ६२४

नियमावली ।

१. वार्षिक मूल्य उपहारसहित ३) तीन रुपया पेशगी
है । बी. पी. तीन रुपया एक आनेका भेजा जाता है ।
 २. उपहारके बिना भी तीन रुपया मूल्य है ।
 ३. ग्राहक वर्षके आरंभसे क्रिये जाते हैं और बीचसे
अर्थात् ७ वें अंकसे । बीचसे ग्राहक होनेवालोंको
उपहार नहीं दिया जाता । आधे वर्षका मूल्य
१) रु० है ।
 ४. प्रत्येक अंकका मूल्य पाँच आने है ।
 ५. सब तरहका पत्रव्यवहार इस पतेसे करना चाहिए ।
- मैनेजर—जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय.**
हीराबाग, पो० गिरगांव—बंबई ।

प्रार्थनायें ।

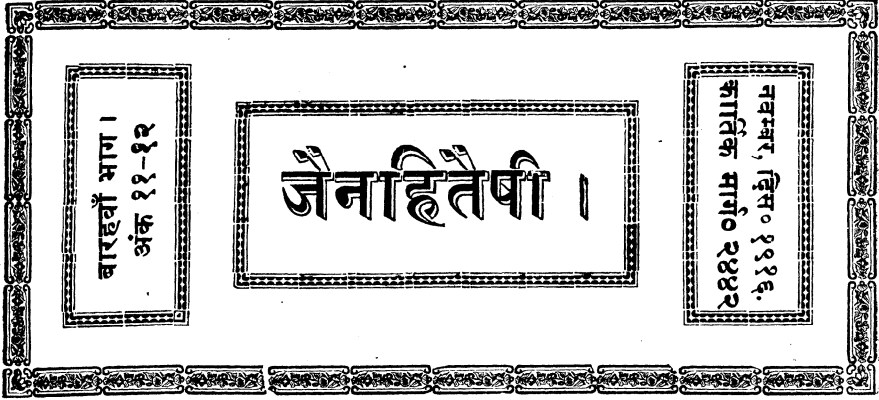
१. जैनहितैषी किसी स्वार्थबुद्धिसे प्रेरित होकर निजी
लाभके लिए नहीं निकाला जाता है । इसमें जो समय
और शक्तिका व्यय किया जाता है वह केवल अच्छे
विचारोंके प्रचारके लिए । अतः इसकी उन्नतिमें
हमारे प्रत्येक पाठकको सहायता देनी चाहिए ।
२. जिन महाशयोंको इसका कोई लेख अच्छा मालूम
हो उन्हें चाहिए कि उस लेखको जितने मित्रोंको
वे पढ़कर सुना सकें अवश्य सुना दिया करें ।
३. यदि कोई लेख अच्छा न मालूम हो अथवा विरुद्ध
मालूम हो तो केवल उसीके कारण लेखक या
सम्पादकसे द्वेष भाव न धारण करनेके लिए सवि-
नय निवेदन है ।
४. लेख भेजनेके लिए सभी सम्प्रदायके लेखकोंको
आमंत्रण है । —सम्पादक ।

हमारे हिन्दी ग्रन्थोंकी कदर ।

हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकरके ग्रन्थोंके प्रेमी यह जानकर
बहुत प्रसन्न होंगे कि इन्दौरकी ' महाराजा होलकर्से
हिन्दीसाहित्य-समिति ' ने हमारी नीचे लिखी पुस्त-
कोंपर प्रसन्न होकर उनके लेखकोंको नीचे लिखे अनु-
सार पारितोषिक प्रदान किया है—

- १ स्वावलम्बन (हिन्दी सेल्फहेल्प)—ले०,
बाबू मोतीलाल बी. ए. ४५)
- २ सफलता और उसकी साधनाके
उपाय—ले०, बाबू रामचन्द्र वर्मा, ... २०)
- ३ युवाओंको उपदेश—ले०, बाबू दयाचन्द्र
बी. ए., २०)
- ४ व्यापारशिक्षा—ले०, पं० गिरिधर शर्मा, २०)
इसके सिवाय मध्यप्रदेश (सी. पी.) के शिक्षा-
खातेने अपने यहाँकी लायब्रेरियोंके और विद्यार्थि-
योंके पारितोषिकके लिए नीचे लिखी पुस्तकों मंजूर
की हैं और हमें इस प्रकारके नैतिक शिक्षाप्रद ग्रन्थ
प्रकाशित करनेके लिए बहुत ही उत्साहित किया है—
- १ मितव्ययता (किफायतशारी) मू० ॥१८)
- २ चरित्रगठन और मनोबल ,, =॥
- ३ अच्छी आदतें डालनेकी शिक्षा ,, =॥
- ४ स्वावलम्बन (सेल्फ हेल्प) ,, १॥
- ५ पिताके उपदेश ,, =॥
- ६ शान्ति वैभव ,, १)
- ७ युवाओंको उपदेश ,, ॥=)

हितं मनोहारि च दुर्लभ वचः ।



सारे ही संघ सनेहके सूतसौं, संयुत हों, न रहै कोउ द्वेषी ।
प्रेमसौं पालैं स्वधर्म सभी, रहैं सत्यके साँचे स्वरूप-गवेषी ॥
बैर विरोध न हो मतभेदतैं, हों सबके सब बन्धु शुभैषी ।
भारतके हितको समझैं सब, चाहत है यह जैनहितैषी ॥

भद्रबाहु-संहिता ।

(ग्रन्थ-परीक्षा-लेखमालाका चतुर्थ लेख ।)

(२)

[ले० श्रीयुत बाबू जुगलंकिशोरजी मुख्तार ।]

जिन लोगोंका अभीतक यह खयाल रहा है कि यह ग्रंथ (भद्रबाहुसंहिता) भद्रबाहु श्रुतकेवलीका बनाया हुआ है—आजसे लगभग २३०० वर्ष पहलेका बना हुआ है—उन्हें पिछला लेख पढ़नेसे मालूम होगया होगा कि यह ग्रंथ वास्तवमें भद्रबाहु श्रुतकेवलीका बनाया हुआ नहीं है, न उनके किसी शिष्य-प्रशिष्यकी रचना है और न विक्रमसंवत् १६५७ से पहलेहीका बनाहुआ है । बल्कि इसका अवतार विक्रमकी १७ वीं शताब्दिके उत्तरार्धमें—संवत् १६५७ और १६६५

के मध्यवर्ती किसी समयमें—हुआ है । अस्तु । इस ग्रंथके साहित्यकी जाँचसे मालूम होता है कि जिस किसी व्यक्तिने इस ग्रंथकी रचना की है वह निःसन्देह अपने घरकी अकल बहुत कम रखता था और उसे ग्रंथका सम्पादन करना नहीं आता था । साथ ही, जाली ग्रंथ बनानेके कारण उसका आशय भी शुद्ध नहीं था । यही वजह है कि उससे, ग्रंथकी स्वतंत्र रचनाका होना तो दूर रहा, इधर उधरसे उठाकर रक्खे हुए प्रकरणोंका संकलन भी ठीक तौरसे नहीं

होसका और इसलिए उसका यह ग्रंथ इधरउधरके प्रकरणोंका एक बेंडंगा संग्रह बन गया है । आज इस लेखमें इन्हीं सब बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है । इससे पाठकों पर ग्रंथका जालीपन और भी अधिकताके साथ खुल जायगा और साथ ही उन्हें इस बातका पूरा अनुभव हो जायगा कि ग्रंथकर्ता महाशय कितनी योग्यता रखते थे:-

(१) इस ग्रंथके तीसरे खंडमें तीन अध्याय-चौथा, पाँचवाँ, और सातवाँ-ऐसे हैं जिनका मूल प्राकृत भाषामें है और अर्थ संस्कृतमें दिया है । चूँकि इस संहिता पर किसी दूसरे विद्वान की कोई टीका या टिप्पणी नहीं है इस लिए उक्त अर्थ उसी दृष्टिसे देखा जाता है; जिस दृष्टिसे कि शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ । अर्थात् वह ग्रंथकर्ता (भद्रबाहु) का ही बनाया हुआ समझा जाता है; परन्तु ग्रंथकर्ताको ऐसा करनेकी जरूरत क्यों पैदा हुई, यह कुछ समझमें नहीं आता । इसके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि प्राकृत होनेकी वजहसे ऐसा किया गया तो यह कोई समुचित उत्तर नहीं हो सकता । क्योंकि प्रथम तो ऐसी हालतमें, जब कि यह सारा ग्रंथ संस्कृतमें रचा गया है, इन अध्यायोंको प्राकृतमें रचकर ग्रंथकर्ताका डबल परिश्रम करना ही व्यर्थ मालूम होता है । दूसरे, बहुतसे ऐसे प्राकृत ग्रंथ भी देखनेमें आते हैं जिनके साथ उनका संस्कृत अर्थ लगाहुआ नहीं है । और न भद्रबाहुके समयमें, जब कि प्राकृत भाषा अधिक प्रचलित थी, प्राकृत ग्रंथोंके साथ उनका संस्कृत अर्थ लगानेकी कोई जरूरत थी । तीसरे इस खंडके तीसरे अध्यायमें 'उवसंग्गहर' और 'तिजयपहुत्त' नामके दो स्तोत्र प्राकृत भा-

षामें दिये हैं, जिनके साथमें उनका संस्कृत अर्थ नहीं है । चौथे, पहले खंडके पहले अध्यायमें कुछ संस्कृतके श्लोक भी ऐसे पाये जाते हैं जिनके साथ संस्कृतमें ही उनकी टीका अथवा टिप्पणी लगी हुई है । ऐसी हालतमें प्राकृतकी वजहसे संस्कृत अर्थका दिया जाना कोई अर्थ नहीं रखता । यदि कठिनता और सुगमताकी दृष्टिसे ऐसा कहा जाय तो वह भी ठीक नहीं बन सकता । क्योंकि इस दृष्टिसे उक्त चारों ही अध्यायोंकी प्राकृतमें कोई विशेष भेद नहीं है । रही संस्कृत श्लोकोंकी बात, सो वे इतने सुगम हैं कि उनपर टीका-टिप्पणीका करना ही व्यर्थ है । नमूनेके तौरपर यहाँ दो श्लोक टीका-टिप्पणीसहित उद्धृत किये जाते हैं:-

१-पात्रान्तंतर्था दानेन भक्त्या भुंजेत्स्वयं पुनः ।

भोगभूमिकरः स्वर्गप्राप्तेरुत्तमकारणम् ॥ ८० ॥

टीका-पात्रानिति बहुवचनं मुनि आर्थिका श्रावक श्राविका इति चतुर्विधपात्रप्रार्थ्यर्थ । एतेष्वन्यतमं पूर्वमाहारादिदानेन संतर्था पुनः स्वयं भुजेत् । पात्रदानं च भोगभूमिस्वर्गप्राप्तेरुत्तमकारणं त्रैयमित्यर्थः ।

२-कांस्यपात्रे न भोक्तव्यमन्योन्यवर्णजैः कदा ।

शुद्धस्त्वपक्वं पक्वं वा न भुंजेदन्यपंक्तिषु ॥ ८४ ॥

टिप्पणी-पंक्तिषु इति बहुवचनाद्वर्णत्रयपंक्तावेव पक्वमपक्वं वा न भुंजेत् इत्यर्थः ।

इससे पाठक समझ सकते हैं कि श्लोक कितने सुगम हैं, और उनकी टीका-टिप्पणीमें क्या विशेषता की गई है । साथ ही मुकाबलेके लिए इससे पहले लेखमें और इस लेखके अगले भागमें उद्धृत किये हुए बहुतसे कठिनसे कठिन श्लोकोंको भी देख सकते हैं जिन पर कोई टीका-टिप्पण नहीं है । और फिर उससे नतीजा निकाल सकते हैं कि कहाँ तक ऐसे श्लोकोंकी ऐसी टीका-टिप्पणी करना श्रुतकेवली जैसे विद्वानोंका काम होसकता

१-२ थे दोनों स्तोत्र श्वेताम्बरोंके 'प्रतिक्रमणसूत्र' में भी पाये जाते हैं; परन्तु यहाँ पर उक्त प्रतिक्रमण सूत्रसे पहले स्तोत्रमें तीन और दूसरेमें एक ऐसी चार गाथायें अधिक हैं ।

हैं । सच तो यह है कि यह सब मूल और टीका-टिप्पणियाँ भिन्नभिन्न व्यक्तियोंका कार्य मालूम होता है । मूलकर्ताओंसे टीकाकार भिन्न जान पड़ते हैं । सबका ढंग और कथन-शैली प्रायः अलग है । चौथे और सातवें अध्यायोंकी टीकामें बहुतसे स्थानों पर, 'इत्यपि पाठः'—ऐसा भी पाठ है—यह लिखकर, मूलका दूसरा पाठ भी दिया हुआ है, जो मूलका उल्लेखयोग्य पाठ-भेद होजानेके बाद टीकाके बननेको सूचित करता है । यथा:—

१- 'वाहिररणं (व्याधिरणं)'—'रायमरणं (राजमरणं) इत्यपि पाठः' ॥ ४-३० ॥

२- 'मेहंतर (मेधान्तर-)'—'हेमंतर (हेमान्तर-) इत्यपि पाठः' ॥ ४-३१ ॥

३- 'अण्णेणवि (अन्येणापि)—' अण्णो-ण्णवि (अन्योन्यमपि-परस्परमपि) इत्यपि पाठः' ॥ ७-२१ ॥

इससे मूलकर्ता और टीकाकारकी साफ तौरसे विभिन्नता पाई जाती है । साथ ही, इन सब बातोंसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ग्रंथकर्ता इन दोनोंसे भिन्न कोई तीसरा ही व्यक्ति है । उसे संभवतः ये सब प्रकरण इसी रूपमें (टीका-टिप्पणीसहित या रहित) कहींसे प्राप्त हुए हैं और उसने उन्हें वहाँसे उठाकर बिना सोचे समझे यहाँ जोड़ दिया है ।

(२) हिन्दुओंके यहाँ ज्योतिषियोंमें 'वराह-मिहिर' नामके एक प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य-हो गये हैं । उनके बनाये हुए ग्रंथोंमें 'बृहत्संहिता' नामका एक खास ग्रंथ है, जिसको लोग 'वाराहीसंहिता' भी कहते हैं । इस ग्रंथका उल्लेख विक्रमकी ११ वीं शताब्दिमें होनेवाले 'सोमदेव' नामके जैनाचार्यने भी अपने 'यशस्तिलक' ग्रंथमें किया है । साथ ही 'जैनतत्त्वादर्श' आदि श्वेताम्बर ग्रंथोंमें भी

इसका उल्लेख पाया जाता है । इस तरह पर दोनों संप्रदायोंके विद्वानों द्वारा यह हिन्दुओंका एक ज्योतिष ग्रंथ माना जाता है । परन्तु पाठ-कोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस बृहत्संहिताके अध्यायके अध्याय भद्रबाहुसंहितामें नकल किये गये हैं—ज्योंके त्यों या कहीं कहीं कुछ भेद और अनावश्यक परिवर्तनके साथ उठाकर रक्खे गये हैं—परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी वराहमिहिर या उनके इस ग्रंथका कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया । प्रत्युत, वराह-मिहिरके इन सब वचनोंको भद्रबाहुके वचन प्रगट किया गया है और इस तरह पर एक अजैन विद्वानके ज्योतिषकथनको जैन ज्यो-तिषका ही नहीं बल्कि जैनियोंके केवलीका कथन बतलाकर सर्व साधारणको धोखा दिया गया है । इस नीचता और धृष्टताके कार्यका पाठक जो चाहे नाम रख सकते हैं और उसके उपलक्षमें ग्रंथकर्ताको चाहे जिस पदवीसे विभूषित कर सकते हैं, मुझे इस विषयमें कुछ कह-नेकी जरूरत नहीं है । मैं सिर्फ यहाँ पर ग्रंथ-कर्ताके इस कृत्यका पूरा परिचय दे देना ही काफी समझता हूँ और वह परिचय इस प्रकार है:—

(क) भद्रबाहुसंहिताके दूसरे खंडमें 'करण' नामका २९ वाँ अध्याय है, जिसमें कुल ९ पद्य हैं । इनमेंसे शुरुके ६ पद्य बृह-त्संहिताके 'तिथि और करण' नामके ९९ वें अध्यायसे, जिसमें सिर्फ ८ पद्य हैं और पहले दो पद्य केवल 'तिथि' से सम्बंध रखते हैं, ज्योंके त्यों (उसी क्रमसे) उठाकर रक्खे गये हैं । सिर्फ पहले पद्यमें कुछ अनावश्यक उलट फेर किया है । बृहत्संहिता-का वह पद्य इस प्रकार है:—

यत्कार्यं नक्षत्रे तद्वैवत्यासु तिथिषु तत्कार्यं ।
करणमुद्दूतैश्चपि तत्सिद्धिकरं देवतासदृशम् ॥ ३ ॥

भद्रबाहुसंहितामें इसके पूर्वार्धको उत्तरार्ध और उत्तरार्धको पूर्वार्ध बना दिया है। इससे अर्थमें कोई हेर फेर नहीं हुआ। इन छहों पद्योंके बाद भद्रबाहुसंहितामें सातवाँ पद्य इस प्रकार दिया है:—

लाभे तृतीये च शुभैः समेते, पापैर्विहीने शुभराशिलभे ।
वेध्या तु कर्णौ त्रिदशेज्यलभे* तिष्येन्दुचित्राहरिरेवतीषु

यह पद्य बृहत्संहिताके 'नक्षत्र' नामके ९८ वें अध्यायसे उठाकर रक्खा गया है, जहाँ इसका नम्बर १७ है। यहाँ 'करण' के अध्यायसे इसका कोई सम्बंध नहीं है। इसके बादके दोनों पद्य (नं० ८-९) भी इस करण-विषयक अध्यायसे कोई संबंध नहीं रखते। वे बृहत्संहिताके अगले अध्याय नं० १०० से उठाकर रक्खे गये हैं, जिसका नाम है 'विवाह-नक्षत्रलग्ननिर्णय' और जिसमें सिर्फ ये ही दो पद्य हैं। इन पद्योंमें से एक पद्य नमूनेके तौर पर इस प्रकार है:—

रेहिष्युत्तरेवतीमृगशिरोमूलानुराधामघा-
हस्तस्वातिषु षष्ठ तौलिमिथुनेष्वत्सु, पाणिप्रहः ।
सप्ताष्टान्यबहिः शुभैरुपतावेकादशद्वित्रिगे,
कुरैस्त्रयायषडष्टगैर्न तु भृगौ षष्ठे कुजे चाष्टमे ॥ ८ ॥

(ख) बृहत्संहितामें 'वस्त्रच्छेद' नामका ७१ वाँ अध्याय है, जिसमें १४ श्लोक हैं। इनमेंसे श्लोक नं० १३ को छोड़कर बाकी सब श्लोक भद्रबाहुसंहिताके 'निमित्त' नामक ३० वें अध्यायमें नं० १८३ से १९५ तक नकल किये गये हैं। परन्तु इस नकल करनेमें एक तमाशा किया है, और वह यह है कि अन्तिम श्लोक नं० १४ को तो अन्तमें ही उसके स्थान पर

* भद्रबाहुसंहितामें 'त्रिदशेज्य' की जगह 'अमरेज्य' बनाया है।

(नं० १९५ पर) रक्खा है। बाकी श्लोकोंमेंसे पहले पाँच श्लोकोंका एक और उसके बादके सात श्लोकोंका दूसरा ऐसे दो विभाग करके दूसरे विभागको पहले और पहले विभागको पछि नकल किया है। ऐसा करनेसे श्लोकोंके क्रममें कुछ गड़बड़ी हो गई है। अन्तिम श्लोक नं० १९५, जो नूतन वस्त्रधारणका विधान करनेवाले दूसरे विभागके श्लोकोंसे सम्बंध रखता था, पहले विभागके श्लोकोंके अन्तमें रक्खे जानेसे बहुत खटकने लगा है और असम्बद्ध मालूम होता है। इसके सिवाय अन्तिम श्लोक और पहले विभागके चौथे श्लोकमें कुछ थोड़ासा परिवर्तन भी पाया जाता है। उदाहरणके तौरपर यहाँ इस प्रकरणके दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं:—

वस्त्रस्य कोणेषु वसन्ति देवा
नराश्च पाशान्तदशान्तमध्ये ।
शेषास्त्रयश्चात्र निशाचरांशा-
स्तथैव शय्यासनपादुकासु ॥ १ ॥

भोक्तुं नवाम्बरं शस्तमृक्षेऽपि गुणवर्जिते ।
विवाहे राजसम्मने ब्राह्मणानां च सम्मते ॥१४॥

भद्रबाहु संहितामें पहला श्लोक ज्योंका त्यों नं० १९० पर दर्ज है और दूसरे श्लोकमें, जो अन्तिम श्लोक है, सिर्फ 'ब्राह्मणानां च सम्मते' के स्थानमें 'प्रतिष्ठामुनिदर्शने' यह पद बनाया गया है।

(ग) वराहमिहिरेने अपनी बृहत्संहितामें अध्याय नं० ८६ से लेकर ९६ तक ११ अध्यायोंमें 'शकुन' का वर्णन किया है। इन अध्यायोंके पद्योंकी संख्या कुल ३१९ है। इसके सिवाय अध्याय नं० ८९ के शुरुमें कुछ थोड़ासा गद्य भी दिया है। गद्यको छोड़कर इन पद्योंमेंसे ३०१ पद्य भद्रबाहुसंहिताके 'शकुन' नामके ३१ वें अध्यायमें उठाकर रक्खे गये हैं और उन पर नम्बर भी उसी (प्रत्येक अध्यायके

अलग अलग) क्रमसे डाले गये हैं जिस प्रकार कि वे उक्त बृहत्संहितामें पाये जाते हैं। बाकीके १८ पद्योंमेंसे कुछ पद्य छूट गये और कुछ छोड़ दिये गये मालूम होते हैं। इस तरह पर ये ग्यारहके ग्यारह अध्याय भद्रबाहुसंहितामें नकल किये गये हैं और उनका एक अध्याय बनाया गया है। इतने अधिक श्लोकोंकी नकलमें सिर्फ आठ दस पद्य ही ऐसे हैं जिनमें कुछ परिवर्तन पाया जाता है। बाकी सब पद्य ज्योंके त्यों नकल किये गये हैं। अस्तु। यहाँ पाठकोंके संतोषार्थ और उन्हें इस नकलका अच्छा ज्ञान करानेके लिए कुछ परिवर्तित और अपरिवर्तित दोनों प्रकारके पद्य नमूनेके तौर पर उद्धृत किये जाते हैं:—

१-वानरभिक्षुध्रवणावलोकनं नैऋतातृतीयांशे ।

फलकुसुमदन्तघटितागमश्च कोणाच्चतुर्थींशे ॥२-८॥

इस पद्यमें नैऋत कोणके सिर्फ तृतीय और चतुर्थ अंशोंकी कथन है। इससे पहले दो अंशोंका कथन और होना चाहिए जो भद्रबाहुसंहितामें नहीं है। इसलिए यह कथन अधूरा है। बृहत्संहिताके ८७वें अध्यायमें इससे पहलेके एक पद्यमें वह कथन दिया है और इसलिए इस पद्यको नं० ९ पर रक्खा है। इससे स्पष्ट है कि वह पद्य यहाँ पर छूटगया है।

२-अवाक्प्रदाने विहितार्थाधिद्धिः पूर्वोक्तदिकृचक्र-
फलौरथान्यत् । वाच्यं फलं चोत्तममध्यनीचशाखा-
स्थितायां वरमध्यनीचम् ॥ ३-३९ ॥

बृहत्संहितामें, जिसमें इस पद्यका नं० ४६ है, इस पद्यसे पहले सात पद्य और दिये हैं जो भद्रबाहुसंहितामें नहीं हैं और उनमें पिंगला जानवरसे शकुन लेनेका विधान किया है। लिखा है कि,—‘संध्याके समय पिंगलाके निवास-वृक्षके पास जाकर ब्रह्मादिक देवताओंकी और उस वृक्षकी नये वस्त्रों तथा सुगंधित

द्रव्योंसे पूजा करे। फिर अकेला अर्धरात्रिके समय उस वृक्षके आश्रिकोणमें खड़ा होकर तथा पिंगलाको अनेक प्रकारकी शपथें (कसमें) देकर पद्य नं० ४२।४३।४४ में दिया हुआ मंत्र ऐसे स्वरसे पढ़े जिसे पिंगला सुन सके और उसके साथ पिंगलासे अपना मनोरथ पूछे। ऐसा कहने पर वृक्ष पर बैठी हुई वह पिंगला यदि कुछ शब्द करे तो उसके फलका विचार पद्य नं० ४५ में* दिया है और उसके कुछ शब्द न करने आदिका विचार स ऊपर उद्धृत किये हुए पद्यमें बतलाया है। इससे इस पद्यका साफ सम्बन्ध उक्त सात पद्योंसे पाया जाता है। मालूम होता है कि ग्रंथकर्ताको इसका कुछ भी स्मरण नहीं रहा और उसने उक्त सात पद्योंको छोड़कर इस पद्यको यहाँ पर असम्बद्ध बना दिया है।

३- राजा कुमारो नेता च दत्तः श्रेष्ठी चरो द्विजः ।

गजाध्यक्षश्च पूर्वाद्याः क्षत्रियाद्याश्चतुर्दिशम् ५-४

यह पद्य यहाँ ‘शिवास्तु’ प्रकरणमें बिलकुल ही असम्बद्ध मालूम होता है। इसका यहाँ कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता। एक बार इसका अवतरण इसी ३१ वें अध्यायके शुरुमें नं० २८ पर हो चुका है और बृहत्संहिताके ८६ वें अध्यायमें यह नं० ३४ पर दर्ज है। नहीं मालूम इसे फिरसे यहाँ रक्कर ग्रंथकर्ताने क्या लाभ निकाला है। अस्तु। इसके बदलेमें इस प्रकरणका ‘शान्ता...’ इत्यादि पद्य नं० १३ ग्रंथकर्ता से छूट गया है और इस तरहपर लेखा बराबर हो गया—प्रकरणके १४ पद्योंकी संख्या ज्योंकी त्यों बनी रही।

* यथा:—“इत्येवमुक्ते तस्मूर्ध्वगायाश्चिरिन्विरिन्वी-
तिस्तेऽर्थसिद्धिः ।

अत्याकुलत्वं दिशिकारश्चन्द्रे कुचाकुचे-
त्येवमुदाहृते वा ॥ ४५ ॥

४- कूरः षष्ठे क्रूरदष्टो बिलम्राद्यस्मिन्त्राशौ तद्गृहांगे
व्रणः स्यात् ।
एवं प्रोक्तं यन्मया जन्मकाले चिह्नं रूपं तत्तदस्मि-
न्विचिन्त्यं ॥ ११-१३ ॥

इस पद्यके उत्तरार्धमें लिखा है कि ' इसी प्रकारसे जन्मकालीन चिह्नों और फलोंका जो कुछ वर्णन मैंने किया है उन सबका यहाँ भी विचार करना चाहिए । वराहमिहिरने ' बृहज्जातक ' नामका भी एक ग्रन्थ बनाया है जिसमें जन्मकालीन चिह्नों और उनके फलोंका वर्णन है । इससे उक्त कथनके द्वारा वराहमिहिरने अपने उस ग्रंथका उल्लेख किया मालूम होता है । ग्रंथकर्ताने उसे बिना सोचे समझे यहाँ ज्योंका त्यों रख दिया है । भद्रबाहुसंहितामें इस प्रकारका कोई कथन नहीं जिससे इसका सम्बंध लगाया जाय ।

५-ओजाः प्रदक्षिण शस्ता मृगः सनकुलाण्डजाः ।
चाषः सनकुलो वामो भृगुराहापराहृतः ॥ १-३७ ॥

यह बृहसंहिता (अ० ८६) का ४३ वाँ पद्य है । इसमें ' भृगु ' जीका नाम उनके वचन सहित दिया है । भद्रबाहुसंहितामें इसे ज्योंका त्यों रक्खा है । बदला नहीं है । संभव है कि यह पद्य परिवर्तनसे छूट गया हो । अब आगे परिवर्तित पद्योंके दो नमूने दिखलाये जाते हैं:-

६-श्रेष्ठो ह्यः सितः प्राच्यां शवमासे च दक्षिणे ।
कन्यका दधिनी पश्चादुदग्साधुजिनादयः ॥ १-४० ॥

बृहत्संहितामें इस पद्यका पहला चरण ' श्रेष्ठे ह्यसिते प्राच्यां ' और चौथा चरण ' दुदग्गो विप्रसाधवः ' दिया है । बाकी दोनों चरण ज्योंके त्यों हैं । इससे भद्रबाहुसंहितामें इस पद्यके इन्हीं दो चरणोंमें तबदीली पाई जाती है । पहले चरणकी तबदीली साधारण है और उससे कोई अर्थभेद नहीं हुआ । रही चौथे चरणकी तबदीली, उसमें ' गोविप्र '

(गोब्राह्मण) की जगह ' जिनादि ' बनाया गया है और उससे यह सूचित किया है कि यात्राके समय उत्तरदिशामें यदि साधु और जिनादिक होवें तो श्रेष्ठ फल होता है । परन्तु इस तबदीलीसे यह मालूम न हुआ कि इसे करके ग्रंथकर्ताने कौनसी बुद्धिमत्ताका कार्य किया है । क्या ' साधु ' शब्दमें ' जिन ' का और ' जिनादि ' शब्दोंमें ' साधु ' का समावेश नहीं होता था ? यदि होता था तो फिर साधु और जिनादि ये दो शब्द अलग अलग क्यों रक्खे गये ? साथ ही, जिस गौ और ब्राह्मणके नामको उड़ाया गया है उसको यदि कोई ' आदि ' शब्दसे ग्रहण कर ले तो उसका ग्रंथकर्ताने इस श्लोकमें क्या प्रतीकार रक्खा है ? उत्तर इन सब बातोंका कुछ नहीं हो सकता । इसलिए ग्रंथकर्ताका यह सब परिवर्तन निरा मूल भरा और मूर्खताका द्योतक है ।

७-धीवरशाकुनिकानां सप्तमभागे भयं भवति दीप्ते
भोजनविधातउक्तो निधनभयं च तत्परतः ॥ २-३३ ॥

इस पद्यमें सिर्फ ' निर्ग्रन्थभयं ' के स्थानमें ' निधनभयं ' बनाया गया है और इसका अभिप्राय शायद ऐसा मालूम होता है कि ग्रंथकर्ताको ' निर्ग्रन्थ ' शब्द खटका है । उसने इसका अर्थ दिगम्बर मुनि या जैनसाधु समझा है और जैनसाधुओंसे किसीको भय नहीं होता, इसलिए उसके स्थानमें ' निधन ' शब्द बनाया गया है । परन्तु वास्तवमें निर्ग्रन्थका अर्थ दिगम्बर मुनि या जैनसाधु ही नहीं है बल्कि ' निर्धन ' और ' मूर्ख ' भी उसका अर्थ है × और यहाँ पर वह ऐसे ही अर्थमें

+ यथा:-' निर्ग्रन्थः क्षपणेऽधने बालिशेऽपि । ' इति श्रीधरसेनः ॥ ' निर्ग्रन्थो निस्त्वमूर्खयोः श्रमणे च । ' इति हेमचन्द्रः ॥

व्यवहृत हुआ है । अस्तु ग्रंथकर्ताका इस परिवर्तनसे कुछ ही अभिप्राय हो, परन्तु छंदकी दृष्टिसे उसका यह परिवर्तन ठीक नहीं हुआ । ऐसा करनेसे इस आर्या छंदके चौथे चरणमें दो मात्रायें कम हो गई हैं—१५ के स्थानमें १३ ही मात्रायें रह गई हैं ।

यहाँ पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि बराहमिहिर आचार्यने तो अपना यह संपूर्ण शकुनसम्बन्धी वर्णन अनेक वैदिक ऋषियों तथा विद्वानोंके आधारपर—अनेक ग्रंथोंका आशय लेकर—लिखा है और उसकी सूचना उक्त वर्णनके शुरुमें लगा दी है । परन्तु भद्रबाहु-संहिताके कर्ता इतने कृतज्ञ थे कि उन्होंने जिस विद्वानके शब्दोंकी इतनी अधिक नकल कर डाली है उसका आभार तक नहीं माना । प्रत्युत अध्यायके शुरुमें मंगलाचरणके बाद यह लिखकर कि 'श्रेणिकके प्रश्नानुसार गौतमने शुभ अशुभ शकुनका जो कुछ कथन किया है वह (यहाँ मेरे द्वारा) विशेषरूपसे निरूपण किया गया है * ' इस संपूर्ण कथनको जैनका ही नहीं बल्कि जैनियोंके केवलीका बना डाला है ! पाठक सोचें और विचार करें, इसमें कितना अधिक धोखा दिया गया है ।

(घ) भद्रबाहुसंहितामें, शकुनाध्यायके बाद, 'पाक' नामका ३२ वाँ अध्याय है, जिसमें १७ पद्य हैं । यह पूरा अध्याय भी बृहत्संहितासे नकल किया गया है । बृहत्संहितामें इसका नं० ९७ है और पद्योंकी संख्या वही १७ दी है । इन पद्योंमेंसे ८ पद्योंकी नकल भद्रबाहुसंहितामें ज्योंकी त्यों पाई जाती है । बाकीके पद्य कुछ परिवर्तनके साथ उठाकर रक्खे गये हैं । परिवर्तन आम तौर

* " श्रेणिकेन यथा पृष्ठं तथा गौतमभाषितम् ।

शुभाशुभं च शकुनं विशेषेण निरूपितम् ॥ २ ॥

पर शब्दोंको प्रायः आगे पीछे कर देने या किसी किसी शब्दके स्थानमें उसका पर्याय-वाचक शब्द रखदेने मात्रसे उत्पन्न किया गया है । उदाहरणके तौर पर आदि अन्तके दो पद्य उन पद्योंके साथ नीचे प्रकाशित किये जाते हैं जिनसे वे कुछ परिवर्तन करके बनाये गये हैंः—

पक्षाद्भानोः सोमस्य मासिकोऽङ्गारकस्य वक्रोक्तः ।

आदर्शनाच्च पाको बुधस्य जीवस्य वर्षेण ॥ १ ॥

(—बृहत्संहिता ।)

पाकः पक्षाद्भानोः सोमस्य च मासिकः कुजस्य वक्रोक्तः

आदर्शनाच्च पाको बुधस्य सुगुरोश्च वर्षेण ॥ १ ॥

(—भद्रबाहुसंहिता ।)

ऊपरके इस पद्यका भद्रबाहुसंहितामें जो परिवर्तन किया गया है उससे अर्थमें कोई भेद नहीं हुआ । हाँ इतना जरूर हुआ है कि आर्या छंदके दूसरे चरणमें १८ मात्राओंके स्थानमें २१ मात्रायें होगई हैं और एककी जगह दो 'पाक' शब्दोंका प्रयोग व्यर्थ हुआ है । यदि शुरुके 'पाकः' पदको किसी तरह निकाल भी दिया जाय तो भी छंद ठीक नहीं बैठता । उस वक्त दूसरे चरणमें १७ मात्रायें रह जाती हैं इसलिए ग्रंथकर्ताने यह परिवर्तन करके कोई बुद्धिमानाका काम नहीं किया ।

२—निगदितसमये न दृश्यते चेदधिकतरं द्विगुणे प्रपच्यते तत् । यदि न कनकरत्नगोप्रदानैरुपशमितं विधिद्विजैश्च शान्त्या ॥ १७ ॥ बृहत्संहिता ।

निगदितसमये न दृश्यते चेत् अधिक (तरं) द्विगुणे विपच्यते तत् । यदि न जिनवचो गुरुपचर्या शमितं तन्महकैश्च लोकशान्त्यै ॥ १७ ॥ भद्र० सं० ।

इस पद्यको देखनेसे मालूम होता है कि भद्र-बाहुसंहितामें इसके उत्तरार्धका खास तौरसे परिवर्तन किया गया है । परिवर्तन किस दृष्टिसे किया गया और उसमें किस बातकी विशेषतः

रक्सी गई है, इस बातको जाननेके लिए सबसे पहले बृहत्संहिताके इस पद्यका आशय मालूम होना जरूरी है और वह इस प्रकार है:—

‘ ग्रहों तथा उत्पातों आदिके फल पकनेका जो समय ऊपर वर्णन किया गया है उस समय पर यदि फल दिखाई न दे तो उससे दूने समयमें वह अधिकताके साथ प्राप्त होता है । परन्तु शर्त यह है कि, वह फल सुवर्ण, रत्न और गोदानादिक शांतिसे विधिपूर्वक ब्राह्मणोंके द्वारा उपशमित न हुआ हो । अर्थात् यदि वह फल इस प्रकारसे उपशांत न हुआ हो तब ही दूने समयमें उसका अधिक पाक होगा, अन्यथा नहीं । स्मरण रहे, भद्रबाहुसंहितामें इस पद्यका जो कुछ परिवर्तन किया गया है वह सिर्फ इस पद्यकी उक्त शर्तका ही परिवर्तन है । इस शर्तके स्थानमें जो शर्त रक्सी गई है वह इस प्रकार है:-

‘ परन्तु शर्त यह है कि वह फल लोक-शांतिके लिए महत्पुरुषों द्वारा की हुई जिनवचन और गुरुकी सेवासे शांत न हुआ हो । ’

इस शर्तके द्वारा इस पद्यको जैनका लिबास पहनाकर उसे जैनी बनाया गया है । साथ ही, ग्रंथकर्ताने अपने इस कृत्यसे यह सूचित किया है कि शांति सुवर्ण, रत्न, और गौआदिके दानसे नहीं होती बल्कि जिनवचन और गुरुकी सेवासे होती है । परन्तु तीसरे खंडके ‘ ऋषिपुत्रिका ’ नामक चौथे, अध्यायमें प्रतिमादिकके उत्पातकी जिसके पाकका इस पाकाध्यायमें भी वर्णन है, शांतिका विधान करते हुए लिखा है कि:—
जं किंचिवि उप्पादं अण्णं विग्धं च तत्थ णासेइ ।
दक्खिणजेज्जसुवण्णं गावी भूमी उ विप्पदेवाणं ११२ *

* इसकी संस्कृतछाया इस प्रकार है:—

यत्किंचिदपि उत्पातं अन्यद्विघ्नं च तत्र नाशयति ।
दक्षिणा दद्यात् सुवर्णं गौः भूमिश्च विप्रदेवेभ्यः ॥

अर्थात्—जो कोई भी उत्पात या दूसरा कोई विघ्न हो उसमें ब्राह्मण देवताओंको दक्षिणा देना चाहिए—सोना, गौ और भूमि देना चाहिए । ऐसा करनेसे उत्पातादिककी शांति होती है ।

इस गाथाको पढ़कर शायद कुछ पाठक यह कह उठें कि ‘ यह कथन जैनधर्मके विरुद्ध है । ’ परन्तु विरुद्ध हो या अविरुद्ध, यहाँ उसके दिखलानेका अभिप्राय या उसपर विचार करनेका अवसर नहीं है—विरुद्ध कथनोंका अच्छा दिद्वर्शन पाठकोंको अगले लेखमें कराया जायगा—यहाँ सिर्फ यह दिखलानेकी गरज है कि ग्रंथकर्ताने एक जगह उक्त परिवर्तनके द्वारा यह सूचित किया है कि सोना तथा गौ आदिके दानसे ब्राह्मणोंके द्वारा शांति * नहीं होती और दूसरी जगह खुले शब्दोंमें उसका विधान किया है । ऐसी हालतमें समझमें नहीं आता कि ग्रंथकर्ताके इस कृत्यको उन्मत्तचेष्टाके सिवाय और क्या कहा जाय ! यहाँ पर यह भी प्रगट कर देना जरूरी है कि ग्रंथकर्ताने, अपने इस कृत्यसे छंदमें भी कुछ गड़बड़ी पैदा की है । बृहत्संहिताका उक्त पद्य ‘ पुष्पिताग्रा ’ नामक छन्दमें+ है । उसके लक्षणानुसार चतुर्थ पादमें भी गणोंका विन्यास उसी प्रकार होना चाहिए था जिस प्रकार कि वह द्वितीय चरणमें पाया जाता है । परन्तु भद्रबाहुसंहितामें ऐसा नहीं है । उसके चौथे चरणका गणविन्यास दूसरे चरणसे बिलकुल भिन्न हो गया है ।

(ङ) भद्रबाहुसंहितामें ‘ वास्तु ’ नामका

* ब्राह्मणोंके उत्कर्षकी बातको दो एक जगह और भी बदला है जिसका ऊपर उद्धृत किये हुए (ख) और (ग) भागके पद्योंमें उल्लेख आनुका है ।

+ इस छंदके विषम (१-३) चरणोंमें क्रमशः नगण नगण रगण यगण और सम (२-४) चरणोंमें नगण जगण जगण रगण और एक गुरु होते हैं ।

३५ वॉ अध्याय है, जिसमें लगभग ६० श्लोक वसुनन्दिके ' प्रतिष्ठासारसंग्रह ' ग्रंथसे उठाकर रक्खे गये हैं और जिनका पिछले लेखमें उल्लेख किया जा चुका है। इन श्लोकोंके बाद एक श्लोकमें वास्तुशास्त्रके अनुसार कथनकी प्रतिष्ठा देकर, १३ पद्य इस बृहत्संहिताके ' वास्तु-विद्या ' नामक ५३ वें अध्यायसे भी उठाकर रक्खे हैं। जिनमेंसे शुरूके चार पद्योंको आर्या छंदसे अनुष्टुपमें बदल कर रक्खा है और बाकीको प्रायः ज्योंका त्यों उसी छंदमें रहने दिया है। इन पद्योंसे भी दो नमूने इस प्रकार हैं:—

१ षष्ठिश्चतुर्विहाना वेदमानि भवन्ति पंच सचिवस्य ।
स्वाश्रंशयुता दैर्घ्यं तदर्धतो राजमहिषीणाम् ॥ ६ ॥
(—बृहत्संहिता ।)

सचिवस्य पंच वेदमानि चतुर्विहाना तु षष्ठिकाः ।
स्वाश्रंशयुतदैर्घ्याणि महिषीणां तदर्धतः ॥ ६८ ॥
(—भद्रबा० सं० ।)

२ ऐशान्यां देवगृहं महानसं चापि कार्यमाश्रेय्याम् ।
नैर्केत्यां भाण्डोपस्करोऽर्थं धान्यानि मास्त्याम् ॥ ७८ ॥

इन पद्योंमें दूसरे नम्बरका पद्य ज्योंका त्यों नकल किया गया है और बृहत्संहितामें नं० ११८ पर दर्ज है। पहले पद्यमें सिर्फ छंदका परिवर्तन है। शब्द प्रायः वहीके वही पाये जाते हैं। इस परिवर्तनसे पहले चरणमें एक अक्षर बढ़ गया है—८ की जगह ९ अक्षर हो गये हैं। यदि ग्रंथकर्ताजी किसी मामूली छंदोवित्से भी सलाह ले लेते तो वह कमसे कम ' सचिवस्य ' के स्थानमें उन्हें ' मंत्रिणः ' कर देना जरूर बतला देता, जिससे छंदका उक्त दोष सहजहीमें दूर हो जाता। अस्तु ।

उपरके इस संपूर्ण परिचयसे—ज्योंके त्यों उठाकर रक्खे हुए, स्थानान्तर किये हुए, छूटे हुए, छोड़े हुए और परिवर्तित किये हुए पद्योंके नमूनोंसे—साफ जाहिर है और इसमें कोई संदेह

बाकी नहीं रहता कि यह सब कथन उक्त बृहत्संहितासे उठाकर ही नहीं बल्कि चुराकर रक्खा गया है। साथ ही इससे ग्रंथकर्ताकी सारी योग्यता और धार्मिकताका अच्छा पता मालूम हो जाता है।

(३) पहले लेखमें, भद्रबाहु और राजा श्रेणिककी (ग्रंथकर्ता द्वारा गढ़ी हुई) असम्बन्ध मुलाकातको दिखलाते हुए, हिन्दुओंके ' बृह-त्पाराशरी होरा ' ग्रंथका उल्लेख किया जा चुका है। इस ग्रंथसे लगभग दोसौ श्लोक उठाकर भद्रबाहुसंहिताके अध्याय नं० ४१ और ४२ में रक्खे गये हैं। संहितामें इन सब श्लोकोंकी नकल प्रायः ज्योंकी त्यों पाई जाती है। सिर्फ दस पाँच श्लोक ही इनमें ऐसे नजर आते हैं जिनमें कुछ थोड़ासा परिवर्तन किया गया है। नमूने इस प्रकार हैं:—

१—भौमजीवारुणाः पापाः एक एव कविः शुभः ।
शनैश्चरेण जीवस्य योगोमेषभवो यथा ॥४१-१६॥

२—स्वत्रिंशोशेऽथवा मित्रे त्रिंशोशे वा स्थितो यदि ।
तस्य भुक्तिः शुभा प्रोक्ता भद्रबाहुमहर्षिभिः ४२-१८

३—एवं देहादिभावानां षड्वर्गगतिभिः फलम् ।
सम्यग्विचार्य मतिमान्प्रवदेत् मागधाधिपः ४२-द्वि. १७

इनमेंसे पहला श्लोक ज्योंका त्यों है और वह उक्त पाराशरी होराके पूर्वखंड सम्बन्धी १३ वें अध्यायमें नं० १९ पर दर्ज है। दूसरे श्लोकमें ' कालविद्भिर्मनीषिभिः ' के स्थानमें ' भद्र-बाहुमहर्षिभिः ' और तीसरे श्लोकमें ' काल-वित्तमः ' की जगह मागधाधिपः ' बनाया गया है। दूसरे श्लोकमें भद्रबाहुके नामका जो

१ यह श्लोक बृहत्पाराशरीहोराके ३७ वें अध्यायमें नं० ३ पर दर्ज है।

२ यह श्लोक बृ० पाराशरी होराके ४६ वें, अध्या-यका ११ वॉ पद्य है।

परिवर्तन है उस प्रकारका परिवर्तन इस अध्यायके और भी अनेक श्लोकोंमें पाया जाता है और इस परिवर्तनके द्वारा ग्रंथकर्ताने हिन्दुओंके इस होरा-कथनको भद्रबाहुका बनानेकी चेष्टा की है। रहा तीसरे श्लोकका परिवर्तन, वह बड़ा ही विलक्षण है। इसके मूलमें लिखा था कि 'इस प्रकार बुद्धिमान् ज्योतिषी (कालवित्तमः) मले प्रकार विचार करके फल कहे'। परन्तु संहिताके कर्ताने, अपने इस परिवर्तनसे, फल कहनेका वह काम मागधोंके राजाके सपुर्द कर दिया है ! और इसलिए उसका यह परिवर्तन यहाँ विलकुल असंगत मालूम होता है। यदि विसर्गको हटाकर यहाँ 'मागधाधिपः' के स्थानमें 'मागधाधिप' ऐसा सम्बोधन पद भी मान लिया जाय तो भी असम्बद्धता दूर नहीं होती। क्योंकि ग्रंथमें इससे पहले उक्त राजाका कोई ऐसा प्रकरण या प्रसंग नहीं है जिससे इस पदका सम्बन्ध हो सके।

(४) हिन्दुओंके यहाँ 'लघुपाराशरी' नामका भी एक ग्रंथ है और इस ग्रंथसे भी बहुत से श्लोक कुछ परिवर्तनके साथ उठाकर भद्रबाहुसंहिताके अध्याय नं० ४१ में रक्खे हुए मालूम होते हैं, जिनमेंसे एक श्लोक उदाहरणके तौर पर इस प्रकार है:—

योगो दशास्वपि भवेत्प्रायस्सुयोगकारिणोः ।

दशाशुभे मध्यगतस्तदयुक् शुभकारिणाम् ॥ ४१ ॥

लघुपाराशरीमें यह श्लोक इस प्रकार दिया है:—

दशास्वपि भवेद्योगः प्रायशो योगकारिणोः ।

दशाद्वयी मध्यगतस्तदयुक् शुभकारिणाम् ॥ १८ ॥

पाठक दोनों पद्यों पर दृष्टि डालकर देखें, कितना सुगम परिवर्तन है ! दो एक शब्दोंको आगे पीछे कर देने तथा किसी किसी शब्दका पर्यायवाचक शब्द रख देने मात्रसे परिवर्तन हो

गया है। लघुपाराशरीके दूसरे पद्योंका भी प्रायः यही हाल है। संहितामें उनका भी इसी प्रकारका परिवर्तन पाया जाता है।

(५) भद्रबाहुसंहिताके दूसरे खंडमें 'लक्षण' नामका एक अध्याय नं० ३७ है, जिसमें प्रधानतः स्त्रीपुरुषोंके अंगों-उपांगों आदिके लक्षणोंको दिखलाते हुए उनके शुभाशुभ फलका वर्णन किया है। इस अध्यायका पहला पद्य इस प्रकार है—

जिनदेवं प्रणम्यादौ सर्वज्ञं विबुधाचिंतम् ।

लक्षणानि च वक्ष्येऽहं भद्रबाहुयथागमं ॥ १ ॥

इस पद्यमें, मंगलाचरणके बाद, लिखा है कि— 'मैं भद्रबाहु आगमके अनुसार लक्षणोंका कथन करता हूँ।' इस प्रतिज्ञावाक्यसे एक दम ऐसा मालूम होता है कि मानो भद्रबाहु स्वयं इस अध्यायका प्रणयन कर रहे हैं और ये सब शब्द उन्हींकी कलमसे अथवा उन्हींके मुखसे निकले हुए हैं; परंतु नीचेके इन दो पद्योंके पढ़नेसे, जो उक्त पद्यके अनन्तर दिये हैं, कुछ और ही मालूम होने लगता है। यथा:—

पूर्वमायुः परीक्षित पश्चालक्षणमेव च ।

आयुर्हीननृनारीणां लक्षणैः किं प्रयोजनम् ॥ २ ॥

नारीणां वामभागे तु पुरुषस्य च दक्षिणे ।

यथोक्तं लक्षणं तेषां भद्रबाहुवचो यथा ॥ ३ ॥

पद्य नं० ३ में 'भद्रबाहुवचो यथा' ये शब्द आये हैं, जिनका अर्थ होता है 'भद्रबाहुके वचनानुसार अथवा जैसा कि भद्रबाहुने कहा है।' अर्थात् ये सब वचन खास भद्रबाहुके शब्द नहीं हैं—उन्होंने इस अध्यायका प्रणयन नहीं किया बल्कि उनके वचनानुसार (यदि यह सत्य हो) किसी दूसरे ही व्यक्तिने इसकी रचना की है। आगे भी इस अध्यायके श्लोक नं० ३२, ३३ और ३५ में यही 'भद्रबाहुव-

१ अन्तके २० पद्योंमें कुछ थोड़ेसे हाथी घोड़ोंके भी लक्षण दिये हैं।

चो यथा, शब्द पाये जाते हैं, जिनसे इस पिछले कथनकी और भी अधिक पुष्टि होती है। इसके सिवाय एक स्थानपर, श्लोक नं० १३६ में, ग्राह्यकन्या कैसी होती है, इत्यादि प्रश्न देकर अगले श्लोक नं० १३७ में ' भद्रबाहु-रुवाचेति ' इस पर भद्रबाहु बोले, इन शब्दोंके साथ उसका उत्तर दिया गया है। प्रश्नोत्तर रूपके ये दोनों श्लोक पहले लेखमें उद्धृत किये जा चुके हैं। इनसे बिलकुल स्पष्ट होजाता है कि यह सब कथन भले ही भद्रबाहुके वचनानुसार लिखा गया हो, परन्तु वह खास भद्रबाहुका वचन नहीं है और न उन लोगोंका वचन है जिनके प्रश्नपर भद्रबाहु उत्तररूपसे बोले थे। क्योंकि यहाँ ' उवाच ' ऐसी परोक्ष भूतकी क्रियाका प्रयोग पाया जाता है। ऐसी हालतमें कहना पड़ता है कि यह सब रचना किसी तीसरे ही व्यक्तिकी कृति है। परन्तु ऐसा होनेपर पहले श्लोकमें दिये हुए उक्त प्रतिज्ञावाक्यसे विरोध आता है और इसलिए सारे कथन पर जालीपनेका संदेह होजाता है। तीसरे नम्बरके पद्यको फिरसे जरा गौरके साथ पढ़ने पर मालूम होता है कि उसमें ' भद्रबाहुवचो यथा ' के होते हुए ' यथोक्तम् ' पद व्यर्थ पड़ा है, उसका ' तेषां ' शब्द खटकता है और चूँकि ' यथोक्तं ' पद ' लक्षणं ' पदका विशेषण है, इसलिए इस पद्यमें कोई क्रियापद नहीं है और न पिछले तथा अगले दोनों पद्योंकी क्रियाओंसे उसका कोई सम्बंध पाया जाता है। ऐसी हालतमें, इस पद्यका अर्थ होता है— ' स्त्रियोंके वाम भागमें और पुरुषके दक्षिणभागमें उनका यथोक्त लक्षण भद्रबाहुके वचनानुसार । ' इस अर्थसे यह पद्य यहाँ बिलकुल असम्बद्ध मालूम होता है और किसी दूसरे पद्यपरसे परिवर्तित करके बनाये जानेका खयाल उत्पन्न करता है। शब्दकल्पद्रुम-

कोशमें ' सामुद्रक ' शब्दके नीचे कुछ श्लोक किसी सामुद्रकशास्त्रसे उद्धृत करके रखे गये हैं, जिनमेंके दो श्लोक इसप्रकार हैं:—

वामभागे तु नारीणां दक्षिणे पुरुषस्य च ।
निर्दिष्टं लक्षणं तेषां समुद्रेण यथोदितम् ॥
पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चात्लक्षणमेव च ।
आयुर्दानं नराणां चेत् लक्षणैः किं प्रयोजनम् ॥

इन श्लोकोंमें पहला श्लोक उक्त तीसरे पद्यसे बहुत कुछ मिलता जुलता है। मालूम होता है कि संहिताका उक्त पद्य इसी श्लोक परसे या इसके सदृश किसी दूसरे श्लोक परसे परिवर्तित किया गया है और इस परिवर्तनके कारण ही वह कुछ दूषित और असम्बंधित बन गया है। अन्यथा, इस श्लोकमें उक्त प्रकारका कोई दोष नहीं है। इसका ' तेषां ' पद भी इससे पहले श्लोकके उत्तरार्धमें आये हुए ' मनुष्याणां ' पदसे सम्बन्ध रखता है। रहा दूसरा श्लोक, उसे देखनेसे मालूम होता है कि वह और संहिताका ऊपर उद्धृत किया हुआ पद्य नं० २ दोनों एक हैं। सिर्फ तीसरे चरणमें कुछ नाममात्रका परिवर्तन है जिससे कोई अर्थभेद नहीं होता। बहुत संभव है कि संहिताका उक्त पद्य भी इस दूसरे श्लोकपरसे परिवर्तित किया गया हो। परन्तु इसे छोड़कर यहाँ एक बात और नोट की जाती है और वह यह है कि इस अध्यायमें एक स्थान पर, ' नारदस्य वचो यथा ' यह पद देकर नारदके वचनानुसार भी कथन करनेको सूचित किया है। यथा:—

ललाटे यस्य जायेत रेखात्रयसमागमः ।
षष्ठिवर्षायुर्दृष्टं नारदस्य वचो यथा ॥१३०॥

इससे मालूम होता है कि इस अध्यायका

१ वह उत्तरार्ध इस प्रकार है:— ' लक्षणं तु मनुष्याणां एकैकेन वदाम्यहम् ।

कुछ कथन किसी ऐसे ग्रंथसे भी उठाकर रक्खा-गया है जो हिन्दुओंके नारद मुनि या नारदाचार्यसे सम्बंध रखता है। 'नारदस्य वचो यथा' और 'भद्रबाहुवचो यथा' ये दोनों पद एक ही वजनके हैं। आश्चर्य नहीं कि इस अध्यायमें जहाँ 'भद्रबाहुवचो यथा' इस पदका प्रयोग पाया जाता है वह 'नारदस्य वचो यथा' इस पदको बदल कर ही बनाया गया हो और ऊपरके पद्यमें 'नारदस्य' के स्थानमें 'भद्रबाहु' का परिवर्तन करना रह गया हो। परन्तु कुछ भी हो ऊपरके इस संपूर्ण कथनसे इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि इस अध्यायका यह सब कथन, जो २२० पद्योंमें है, एक या अनेक सामुद्रकशास्त्रों— लक्षणग्रंथों—अथवा तद्विषयक अध्यायोंसे उठाकर रक्खा गया है और कदापि भद्रबाहुश्रुतकेवलीका वचन नहीं है।

(६) भद्रबाहुसंहिताके पहले खंडमें दस अध्याय हैं, जिनके नाम हैं १ चतुर्वर्णानित्यक्रिया, २ क्षत्रियनित्यकर्म, ३ क्षत्रियधर्म, ४ कृतिसंग्रह, ५ सीमानिर्णय, ६ दंडपारुष्य, ७ स्तैन्यकर्म, ८ स्त्रीसंग्रहण, ९ दायभाग और १० प्रायश्चित्त। इन सब अध्यायोंकी अधिकांश रचना प्रायः मनु आदि स्मृतियोंके आधार पर हुई है, जिनके सैंकड़ों पद्य या तो ज्योंके त्यों और या कुछ परिवर्तनके साथ जगह जगह पर इन अध्यायोंमें पाये जाते हैं। मनुके १८ व्यवहारों—विवादपदों—का भी अध्याय नं० ३ से ९ तक कथन किया गया है। परन्तु यह सब कथन पूरा और सिलसिलेवार नहीं है। इसके बीचमें कृतिसंग्रह नामका चौथा अध्याय अपनी कुछ निराली ही छटा दिखला रहा है—उसका मजमून ही दूसरा है—और उसमें कई विवादोंके कथनका दर्शन तक भी नहीं कराया गया। इन अध्यायों पर यदि विस्तारके साथ विचार किया जाय

तो एक खासा अलग लेख बन जाय; परन्तु यहाँ इसकी जरूरत न समझकर सिर्फ उदाहरणके तौरपर कुछ पद्योंके नमूने दिखलाये जाते हैं:-

क—ज्योंके त्यों पद्य।

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दंडनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारंभांश्च लोकतः २-१३४
तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तं लब्धप्रशमनानि च ॥-१४५॥
ये दोनों पद्य मनुस्मृतिके सातवें अध्यायके हैं जहाँ वे क्रमशः नं० ४३ और ५६ पर दर्ज हैं।

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने ।
समानशयने चैव न शयीत तथा सह ॥ ४-४२ ॥
यह पद्य मनुस्मृतिके चौथे अध्यायका ४० वाँ पद्य है।

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद्विशतो दमः ।
शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवापुयाद्दश ॥ ८-१४ ॥
यह पद्य मनुस्मृतिके आठवें अध्यायमें नं० ३६९ पर दर्ज है।

ख—परिवर्तित पद्य।

मनुस्मृतिके सातवें अध्यायमें, राजधर्मका वर्णन करते हुए, राजाके कामसे उत्पन्न होनेवाले दंडस व्यसनोंके जो नाम दिये हैं वे इस प्रकार हैं:-

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियोमदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाख्या च कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥

भद्रबाहुसंहितामें इस पद्यके स्थानमें निम्न लिखित डेढ़ पद्य दिया है:-

परिवादो दिवास्वप्नः मृगयाक्षो वृथाटनम् ।
तौर्यत्रिकं स्त्रियो मद्यमसत्यं स्तैन्यमेव च ॥ २-१३८ ॥
इमे दशगुणाः प्रोक्ताः कामजाः बुधनिन्दिताः ।

दोनों पद्योंके मीलानसे जाहिर है कि भद्रबाहुसंहिताका यह डेढ़ पद्य मनुस्मृतिके उक्त पद्य नं० ४७ परसे, उसके शब्दोंकी आगे पीछे

करके बनाया गया है। सिर्फ 'असत्य' और 'स्तैन्य' ये दो व्यसन इसमें ज्यादह बढ़ाये गये हैं, जिनकी वजहसे कामज व्यसनों या गुणोंकी संख्या दसके स्थानमें बारह हो गई है। परंतु वैसे भद्रबाहुसंहितामें भी यह संख्या दस ही लिखी है, जिससे विरोध आता है। संभव है कि ग्रंथकर्ताने 'तौर्यत्रिक' को एक गुण या एक चीज समझा हो। परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। गाना, बजाना और नाचना ये तीनों चीजें अलग अलग हैं और अलग अलग गुण कहे जाते हैं, जैसा कि उक्त पदमें लगे हुए 'त्रिक' शब्दसे भी जाहिर है।

नाधर्मस्वरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।

शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्धूलानि क्वन्तति ॥ ४-१७२ ॥

(-मनुस्मृतिः ।)

नाधर्मस्वरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।

शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्धूलानि क्वन्तति ॥ ४-८५ ॥

(-भद्रबाहु सं०)

ये दोनों पद्य प्रायः एक हैं । भद्रबाहुसंहिताके पद्यमें जो कुछ थोड़ासा परिवर्तन है वह समीचीन मालूम नहीं होता। उसका 'मिश्रं' पद बहुत सटकता है और वह यहाँ पर कुछ भी अर्थ नहीं रखता। यदि उसे किसी तरह पर 'सद्यः' का पर्यायवाचक शब्द 'शीघ्र' मान लिया जाय तो ऐसी हालतमें 'स्वरितो' के स्थानमें 'श्रितो' भी मानना पड़ेगा और तब पद्य भरमें सिर्फ एक शब्दका ही अनावश्यक परिवर्तन रह जायगा।

आत्मा वै जायते पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।

तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥९-२६॥

दायभाग प्रकरणका यह पद्य वही है जो मनुस्मृतिके ९ वें अध्यायमें नं० १३० पर दर्ज है। सिर्फ उसके 'यथैवात्मा तथा पुत्रः' के स्थानमें 'आत्मा वै जायते पुत्रः' यह वाक्य

बनाया गया है। इस परिवर्तनसे 'पुत्र अपने ही समान हकदार है' की जगह 'आत्मा निश्चयसे पुत्ररूप होकर उत्पन्न होता है' यह अर्थ हो गया है।

कृत्वा यज्ञोपवीतं तु पृष्ठतः कंठलम्बितम् ।

विष्णुत्रे तु गृही कुर्याद्द्वामकर्णे व्रतान्वितः ॥ १-१८॥

यह पद्य वही है जिसे विट्ठल नारायण कुत 'आह्निक' में 'अंगिराः' ऋषिका वचन लिखा है। सिर्फ 'समाहितः' के स्थानमें यहाँपर 'व्रतान्वितः' का परिवर्तन किया गया है।

मनुस्मृतिके आठवें अध्यायमें, लोकव्यवहारके लिए कुछ संज्ञाओंका वर्णन करते हुए, लिखा है कि झरोखेके भीतर सूर्यकी किरणोंके प्रविष्ट होनेपर जो सूक्ष्म रजःकण दिखलाई देते हैं उसको त्रसरेणु कहते हैं। आठ त्रसरेणुओंकी एक लीख, तीन लीखोंका एक राजसर्षप, तीन राजसर्षपोंका एक गौरसर्षप और छह गौरसर्षपोंका एक मध्यम यव (जौ) होता है। यथाः--

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।

प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ।

ता राजसर्षपस्तिष्ठस्ते त्रयो गौरसर्षपाः ॥१३३॥

सर्षपाः षट् यवो मध्यः.....

भद्रबाहुसंहिताके कर्ताने मनुस्मृतिके इस कथनमें त्रसरेणुसे परमाणुका अभिप्राय समझकर तथा राजसर्षप और गौरसर्षपके भेदोंको उड़ाकर जो कथन किया है वह इस प्रकार हैः—

+ यस्य भागो पुनर्नस्यात्परमाणुः स उच्यते ।

तेऽष्टौ लिक्षा त्रयस्तच्च सर्षपस्ते यवो हि षट् ॥३-२५२॥

+ इससे पहले श्लोकमें त्रसरेणुादिके भेदसे ही मान-संज्ञाओंके कथनकी प्रतिज्ञा की गई है जिससे मालूम होता है कि ग्रंथकर्ताने त्रसरेणुको परमाणु समझा है। यथाः संसारव्यवहारार्थ मानसंज्ञा प्रकथ्यते । हेम-रत्नादिवस्तुनां त्रसरेणुादिभेदतः ॥ २५१ ॥

अर्थात्—जिसका विभाग न हो सके उसको परमाणु कहते हैं। आठ परमाणुओंकी एक लीख, तीन लीखोंका एक सर्षप (सरसोंका दाना) और छह सर्षपोंका एक जौ होता है। संहिताका यह सब कथन जैनदृष्टिसे बिल्कुल गिरा हुआ ही नहीं बल्कि नितान्त, असत्य मालूम होता है। इस कथनके अनुसार एक जौ, असंख्यात अथवा अनंत परमाणुओंकी जगह, सिर्फ १४४ परमाणुओंका पुंज ठहरता है, जब कि मनुस्मृतिका कर्ता उसे ४३२ त्रसरेणुओंके बराबर बतलाता है। एक त्रसरेणुमें बहुतसे परमाणुओंका समूह होता है। परमाणुको जैनशास्त्रोंमें इंद्रियगोचर नहीं माना; ऐसी हालत होते हुए लौकिक व्यवहारमें परमाणुके पैमानेका प्रयोग भी समुचित प्रतीत नहीं होता। इन सब बातोंसे मालूम होता है कि ग्रंथकर्ताने संज्ञाओंको यह कथन मनस्मृति या उसके सदृश किसी दूसरे ग्रंथसे लिया तो जरूर है; परन्तु वह उसके आशयको ठीक तौरसे समझ नहीं सका और उसने परमाणुका लक्षण साथमें लगाकर जो इस कथनको जैनकी रंगत देनी चाही है उससे यह कथन उलटा जैनके विरुद्ध होगया है और इससे ग्रंथकर्ताकी साफ मूर्खता टपकती है। सत्य है 'मूर्खोंका प्रसाद भी भयंकर होता है।'

(७) इस संहितामें अनेक कथन ऐसे पाये जाते हैं जिन्हें ग्रंथकर्ताने विना किसी नूतन आवश्यकताके एकसे अधिक बार वर्णन किया है और जिनके इस वर्णनसे न सिर्फ ग्रंथकर्ताकी मूढता अथवा हिमाकत ही जाहिर होती है बल्कि साथ ही यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि यह पूरा ग्रंथ किसी एक व्यक्तिकी स्वतंत्र रचना न होकर प्रायः भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके प्रकरणोंका एक बेढंगा संग्रह मात्र है। ऐसे कथनोंके कुछ नमूने इस प्रकार हैं:—

(क) पहले खंडके 'प्रायाश्चित्त' नामक १० वें अध्यायमें, एक स्थान पर, ये तीन पद्य दिये हैं:—

पण दस बारस गियमा पण्णारस होइ तइय दिवसेहि ।
खात्तिय बंभाविस्सा सुहाय कमेण सुज्झंति ॥ ३७ ॥

क्षत्रियासूतकं पंच विप्राणां दश उच्यते ।

वैश्यानां द्वादशाहेन मासाधैश्वितरे जने ॥ ३८ ॥

यतिः क्षणेन शुद्धः स्यात्पंच रात्रेण पार्थिवः ।

ब्राह्मणो दशरात्रेण मासाधैनेतरो जनः ॥ ३९ ॥

इन तीनों पद्योंमेंसे कोई भी पद्य 'उक्तं च' आदि रूपसे किसी दूसरे व्यक्तिका प्रगट नहीं किया गया और न दूसरा पद्य पहले प्राकृत पद्यकी छाया है। तो भी पहले पद्यमें जिस बातका वर्णन दिया है वही वर्णन दूसरे पद्यमें भी किया गया है। दोनों पद्योंमें क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रोंकी सूतकशुद्धिकी मर्यादा क्रमशः पाँच, दस, बारह और पंद्रह दिनकी बतलाई है। रहा तीसरा पद्य, उसमें क्षत्रियों और ब्राह्मणोंकी शुद्धिका तो कथन वही है जो ऊपरके दोनों पद्योंमें दिया है और इसलिए यह कथन तीसरी बार आगया है, बाकी रही वैश्यों और शूद्रोंकी शुद्धिकी मर्यादा, वह इसमें १५ दिनकी बतलाई है, जिससे वैश्योंकी शुद्धिका कथन पहले दोनों पद्योंके कथनसे विरुद्ध पड़ता है। क्योंकि उनमें १२ दिनकी मर्यादा लिखी है। इसके सिवाय ग्रंथमें इन तीनों पद्योंका ग्रंथके पहले पिछले पद्योंके साथ कुछ सम्बंध ठीक नहीं बैठता और ये तीनों ही पद्य यहाँ 'उठाऊ चूल्हा' जैसे मालूम पड़ते हैं।

(ख) दूसरे खंडमें 'तिथि' नामका २८ वाँ अध्याय है, जिसमें कुल तेरह पद्य हैं। इनमेंसे छह पद्य नं० ४, ५, ७, ८, ९, १० बिल्कुल वे ही हैं जो इससे पहले 'मूर्हत' नामके २७ वें अध्यायमें क्रमशः नं० ९, १०, १७,

१८, १९, २० पर दर्ज हैं । यहाँ पर उन्हें व्यर्थ ही दुबारा रक्खा गया है ।

(ग) दूसरे खंडमें ' विरोध ' नामका एक ४३ वाँ, अध्याय भी है जिसमें कुल ६३ श्लोक हैं । इन श्लोकोंमें शुरूके साढ़े तेईस श्लोक—नं० २ से नं० २५ के पूर्वार्ध तक—बिलकुल ज्योंके त्यों वे ही हैं जो पहले इसी खंडके ' ग्रहयुद्ध ' नामके २४ वें अध्यायके + शुरूमें आचुके हैं और उन्हीं नम्बरोंपर दर्ज हैं । समझमें नहीं आता कि जब दोनों अध्यायोंका विषय भिन्न भिन्न था तो फिर क्यों एक अध्यायके इतने अधिक श्लोकोंको दूसरे अध्यायमें फिजूल नकल किया गया । संभव है कि इन दोनों विषयोंमें ग्रंथकर्ताको परस्पर कोई भेद ही मालूम न हुआ हो । उसे इस ' विरोध ' नामके अध्यायको रखनेकी जरूरत इस वजहसे पड़ी हो कि उसके नामकी सूचना उस विषयसूचीमें की गई है जो इस खंडके पहले अध्यायमें लगी हुई है और जो पहला अध्याय अगले २३-२४ अध्यायोंके साथ किसी दूसरे व्यक्तिका बनाया हुआ है, जैसा कि पहले लेखमें सूचित किया जा चुका है और इसलिए ग्रंथकर्ताने इस अध्यायमें कुछ श्लोकोंको ' ग्रहयुद्ध ' प्रकरणसे और बाकीको एक या अनेक ताजिक ग्रंथोंसे उठाकर रख दिया हो और इस तरहपर इस अध्यायकी पूर्ति की हो । परन्तु कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि ग्रंथकर्ताने अपने इस कृत्यद्वारा सर्व साधारण पर अपनी खासी मूर्खता और हिमाकतका इजहार किया है ।

(घ) इस ग्रंथमें ' स्वप्न ' नामका एक अध्याय नं० २६ है, जिसमें केवल स्वप्नका ही वर्णन है और दूसरा ' निमित्त ' नामका ३०

वाँ अध्याय है, जिसमें स्वप्नका भी वर्णन दिया है । इन दोनों अध्यायोंमें स्वप्नविषयक जो कुछ कथन किया गया है उसमेंसे बहुतसा कथन एक दूसरेसे मिलता जुलता है और एकके होते दूसरा बिलकुल व्यर्थ और फिजूल मालूम होता है । नमूनेके तौरपर यहाँ दोनों अध्यायोंसे सिर्फ दो दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं:-

१-मधुरेर्विशोत्स्वप्ने दिवा वा यस्य वेश्मनि ।
तस्यार्थनाशं नियतं मृतोवाप्यभिनिर्दिशेत् ॥ ४५ ॥
—अध्याय २६ ।

मधुछत्रं विशोत्स्वप्ने दिवा वा यस्य वेश्मनि ।
अर्थनाशो भवेत्तस्य मरणं वा विनिर्दिशेत् ॥ १३३ ॥
—अध्याय ३० ।

२-मूत्रं वा कुस्ते स्वप्ने पुरीषं वा सलोहितम् ।
प्रतिबुध्येत्तथा यश्च लभते सोऽर्थनाशनम् ॥ ५२ ॥
—अ० २६ ।

पुरीषं लोहितं स्वप्ने मूत्रं वा कुस्ते तथा ।
तदा जागर्ति यो मर्त्यो द्रव्यं तस्य विनश्यति ॥ १२१ ॥
—अ० ३० ।

इनसे साफ जाहिर है कि ग्रंथकर्ताने इन दोनों अध्यायोंका स्वप्नविषयक कथन भिन्न भिन्न स्थानोंसे उठाकर रक्खा है और उसमें इतनी योग्यता नहीं थी कि वह उस कथनको छाँटकर अलग कर देता जो एक बार पहले आचुका है । इसी तरह पर इस ग्रंथमें ' उत्पात ' नामका एक अध्याय नं० १४ है, जिसमें केवल उत्पातका ही वर्णन है और दूसरा ' ऋषिपुत्रिका ' नामका चौथा अध्याय, तीसरे खंडमें, है जिसमें उत्पातका प्रधान प्रकरण है । इन दोनों अध्यायोंका बहुतसा उत्पातविषयक कथन भी एक दूसरेसे मिलता जुलता है । इनके भी दो दो नमूने इस प्रकार हैं:-

१-नर्तनं जलनं हास्यं उल्कालापौ निमीलनं ।
देवा यत्र प्रकुर्वन्ति तत्र विद्यान्महद्भयम् ॥ १४-१०२ ॥

+ इस २४ वें अध्यायमें कुल ४३ श्लोक हैं।

देवां णञ्चंति जहिं पसिञ्जंति तहय रोवंती ।
जइ धूमंति चर्लंति य हसंति वा विविहरूवेहिं ॥
ल्लोयस्सदिंति मारिं दुब्भिवस्वं तहय रोय पीडं वा ४-७८
२ आरण्या ग्राममायान्ति वनं गच्छंति नागराः ।
उदंति चाथ जल्पंति तदारण्याय कल्पते ॥१४-६॥
आरण्यमिग पक्खी, गामे णयरम्मि दीसदे जत्थ ।
होहदि णायरविणासा परचक्कादो न संदेहो ॥४-५६॥

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि इन अध्यायों-का यह उत्पात विषयक कथन भी भिन्न भिन्न स्थानोंसे उठाकर रक्खा गया है और चूँकि इन दोनों अध्यायोंमें बहुतसा कथन एक दूसरेके विरुद्ध भी पाया जाता है, जिसका दिग्दर्शन अगले लेखमें कराया जायगा, इसलिए ये दोनों अध्याय किसी एक व्यक्तिके बनाये हुए भी नहीं हैं । ग्रंथकर्ताने उन्हें जहाँ तहाँसे उठाकर बिना सोचे समझे यहाँ जोड़ दिया है ।

(८) यद्यपि इससे पहले लेखमें और इस लेखमें भी ऊपर, प्रसंगानुसार, असम्बद्ध कथनोंका बहुत कुछ उल्लेख किया जा चुका है तो भी यहाँ पर कुछ थोड़ेसे असम्बद्ध कथनोंको और दिखलाया जाता है, जिससे पाठकों पर ग्रंथका बेढंगापन और भी अधिकताके साथ स्पष्ट हो जायः-

(क) गणेशादिमुनीन् सर्वान् नमंति शिरसा सदा ।
निर्वाणक्षेत्रपूजादीन् भुञ्जंतीन्द्राश्च भो नृप ॥३६-५१॥
त्रसरेण्वादिकं चान्यत्तिलकालकसंभवं ।
इत्येवं व्यंजनानां च लक्षणं तत्त्वतो नृप ॥३८-१९॥
मनुष्येषु भवेच्चिह्नं छत्रतोरणचामरं ।
सिंहासनादिमत्स्यान्तं राज्यचिह्नं भवेन्नृप ॥ ३९-६ ॥

१ संस्कृतछायाः-“ देवा नृत्यंति यदि प्रस्वेयंति तथा च ददन्ति (वदन्ति) । यदि धूमंति चर्लंति च हसंति वा विविधरूपैः ॥ लोकस्य ददति मारिं दुर्भिक्षं तथा रोगपीडां वा ॥ ७८ ॥

२ संस्कृतछायाः-

आरण्यकमृगपक्षी ग्रामे नगरे च दृश्यते यत्र ।
भविष्यति नगरविनाशः परचक्रान् न संदेहः ॥ ५६ ॥

विदिग्गतध्वोर्ध्वगतोऽधोगतो दीप एव च ।
कदाचिद्भवति प्रायो ज्ञेयो राजन् शुभोऽशुभः३-८-१८

ये चारों पद्य क्रमशः १ दिव्येन्द्रसंपदा, २ व्यंजन, ३ चिह्न और ४ दीप नामके चार अलग अलग अध्यायोंके पद्य हैं । इनमें ‘नृप’ और ‘राजन्’ शब्दोंद्वारा किसी राजाको सम्बोधन करके कथन किया गया है; परन्तु पहले यह बतलाया जा चुका है कि इस संपूर्ण ग्रंथमें कहीं भी किसी राजाका कोई प्रकरण या प्रसंग नहीं है और न किसी राजाके प्रश्न पर इस ग्रंथकी रचना की गई है, जिसको सम्बोधन करके ये सब वाक्य कहे जाते । इसलिए ये चारों पद्य इस ग्रंथमें बिलकुल असम्बद्ध तथा अनमेल मालूम होते हैं और साथ ही इस बातको सूचित करते हैं कि ग्रंथकर्ताने इन चारों पद्योंहीको नहीं बल्कि संभवतः उक्त चारों अध्यायोंको किसी ऐसे दूसरे ग्रंथ या ग्रंथोंसे उठाकर यहाँ रक्खा है जहाँ उक्त ग्रंथ या ग्रंथोंके कर्ताओंने उन्हें अपने अपने प्रकरणानुसार दिया होगा । मालूम होता है कि संहिताके कर्ताके ध्यानमें ही ये सम्बोधन पद नहीं आये । अथवा यों कहना चाहिए कि उसमें इनके सम्बंधविशेषको समझनेकी योग्यता ही नहीं थी । इस लिए उसने उन्हें ज्योंका त्यों नकल कर दिया है ।

(ख) इस ग्रंथके तीसरे खंडमें ‘नवग्रहस्तुति’ नामका सबसे पहला अध्याय है । अन्तिमवक्तव्यमें भी इस अध्यायका नाम ‘ग्रहस्तुति’ ही लिखा है; परन्तु इस सारे अध्यायका पाठ कर जाने पर, जिसमें कुल १५ पद्य हैं, ग्रहोंकी स्तुतिका इसमें कहीं भी कुछ पता नहीं है । इसका पहला पद्य मंगलाचरण और प्रतिज्ञाका है, जिसमें ‘ग्रहशान्ति प्रवक्ष्यामि’ इस वाक्यके द्वारा ग्रहोंकी स्तुति नहीं बल्कि शान्तिके कथनकी प्रतिज्ञा की गई है ।

दूसरे पद्यमें ग्रहों (खेचरों) को ' जैनेन्द्र ' बतलाया है और उनके पूजनकी प्रेरणा की है । इसके बाद चार पद्योंमें तीर्थकरों और ग्रहोंके नामोंका मिश्रण है । ये चारों पद्य संस्कृत साहित्यकी दृष्टिसे बड़े ही विलक्षण मालूम होते हैं । इनसे किसी यथेष्ट आशयका निकालना बड़े बुद्धिमानका काम है * । सातवें पद्यमें खेचरों सहित जिनेन्द्रोंके पूजनकी प्रेरणा है । आठवें पद्यमें ग्रहोंके नाम दिये हैं और उन्हें ' जिन ' भगवानकी पूजा करनेवाले बतलाया है । इसके बादके दो पद्योंमें लिखा है कि " जो कोई जिनेन्द्रके सन्मुख ग्रहोंको प्रसन्न करनेके लिए 'नमस्कारशत' को भक्तिपूर्वक १०५ बार जपता है (उससे क्या होता है ? यह कुछ नहीं बतलाया) । पाँचवें श्रुतकेवली भद्रबाहुने यह सब कथन किया है । विद्यानुवादपूर्वकी ग्रहशांतिविधि की गई । " यथा:—

जिनानामप्रतो योहि ग्रहाणां तुष्टिहेतवे ।

नमस्कारशतं भक्त्या जपेदद्योत्तरं शतं ॥ ६ ॥

भद्रबाहुस्त्वावेति पंचमः श्रुतकेवली ।

विद्यानुवादपूर्वस्य ग्रहशांतिविधिः कृतः ॥ १० ॥

११ वें पद्यमें यह बतलाया है कि जो कोई नित्य प्रातःकाल उठकर विघ्नोंकी शांतिके लिए पढ़े (क्या पढ़े ? यह कुछ सूचित नहीं किया)

* उक्त चारों पद्य इस प्रकार हैं, जिनका अर्थ पाठकोंको किसी संस्कृत जाननेवालेसे मालूम करना चाहिए:—

“ पद्यप्रभस्य मार्तंडश्चंद्रश्चंद्रप्रभस्य च । वासुपूज्यस्य भूपुत्रो बुधेप्यष्टजिनेश्वराः ॥ ३ ॥ विमलानन्तधर्माणः शांतिं कुंयुर्नेमिस्तथा । वर्षमानजिनेन्द्रस्य पादपद्मे बुधं न्यसेत् ॥ ४ ॥ वृषभाजितसुषार्श्वश्चाभिनंदनशीतलौ । सुमतिः संभवः स्वामीश्रियांसश्च वृहस्पतेः ॥ ५ ॥ सुविधेः कथितः शुक्रः सुव्रतस्य शनैश्वरः । नेमिनाथो भवेद्राहोः केतुः श्रीमल्लिपार्श्वयोः ॥ ६ ॥ ”

उसकी विपदायें नाश हो जाती हैं और उसे सुख मिलता है । इसके बाद एक पद्यमें ग्रहोंकी धूपके, दूसरेमें ग्रहोंकी समिधिके और तीसरेमें सप्त धान्योंके नाम दिये हैं और अन्तिम पद्यमें यह बतलाया है कि कैसे यज्ञके समान कोई शत्रु नहीं है । अध्यायके इस संपूर्ण परिचयसे पाठक भले प्रकार समझ सकते हैं कि इन सब कथनोंका प्रकृत विषय (ग्रहस्तुति) से कहाँ तक सम्बन्ध है और आपसमें भी ये सब कथन कितने एक दूसरेसे सम्बंधित और सुगठित मालूम होते हैं ! आश्चर्य है कि ऐसे असम्बद्ध कथनोंको भी भद्रबाहु श्रुतकेवलीका वचन बतलाया जाता है ।

(ग) तीसरे खंडमें 'शास्ति' नामके पाँचवें अध्यायका प्रारंभ करतेहुए सबसे पहले निम्न लिखित श्लोक दिया है:—

ग्रहस्तुतिः प्रतिष्ठा च मूलमंत्रर्षिपुत्रिके ।

शास्तिचके क्रियादीपे फलशान्ती दशोत्तरे ॥ १ ॥

यह श्लोक वही है जो, उत्तर खंडके दस अध्यायोंकी सूची प्रगट करता हुआ, अन्तिम वक्तव्यमें नं० ५ पर पाया जाता है और जिसका पिछले लेखमें उल्लेख हो चुका है । यहाँ पर यह श्लोक बिलकुल असम्बद्ध मालूम होता है और ग्रंथकर्ताकी उन्मत्तदशाको सूचित करता है । साथ ही इससे यह भी पाया जाता है कि ' अन्तिम वक्तव्य ' अन्तिमखंडके अन्तमें नहीं बना बल्कि वह कुल या उसका कुछ भाग पहलेसे गढ़ा जा चुका था । तबही उसके उक्त वाक्यका यहाँ इतने पहलेसे अवतार हो सका है । इस श्लोकके आगे प्राकृतके ११ पद्योंमें संस्कृत-छायासहित इस अध्यायका जो कुछ वर्णन किया है वह पहले पद्यको छोड़कर जिसमें मंगलाचरण और प्रतिज्ञा है, किसी यक्षकी पूजासे उठाकर

रक्खा गया है और उसकी 'जयमाल' मालूम होता है।*

(घ) तीसरे खंडके ९ वें अध्यायमें ग्रहचारका वर्णन करते हुए 'शनैश्चर' के सम्बंधमें जो पद्य दिया है वह इस प्रकार है:—

शनैश्चरं चारमिदं च भूमिपो यो वेति विद्वान्निभृतो
यथावत् ।

सपूजनीयो भुवि लब्धकीर्तिः सदा सहायेव हि
दिव्यचक्षुः ॥ ४३ ॥

इस पद्यमें शनैश्चरचारका कुछ भी वर्णन न देकर सिर्फ उस विद्वान् राजाकी प्रशंसा की गई जो शनैश्चरचारके 'इस कथन' को जानता है। परन्तु इससे यह मालूम न हुआ कि शनैश्चरचारका वह कथन कौनसा है जिसका यहाँ 'इदं' (इस) शब्दसे ग्रहण किया गया है। क्योंकि अध्याय भरमें इस पद्यसे पहले या पीछे इस विषयका कोई भी दूसरा पद्य नहीं है जिससे इस 'इदं' शब्दका सम्बंध हो सके। इसलिए यह पद्य यहाँपर बिलकुल असम्बद्ध और अनर्थक मालूम होता है। ग्रंथकर्ताने इसे दूसरे खंडके 'शनैश्चर-चार' नामके १६ वें अध्यायसे उठाकर रक्खा है जहाँपर यह उक्त अध्यायके अन्तमें दर्ज है। इसी तरह पर ग्रहाचारसम्बन्धी अध्यायोंके प्रायः अन्तिम पद्य हैं और वहींसे उठाकर यहाँ रक्खे गये हैं। नहीं मालूम ग्रंथकर्ताने ऐसा करके अपनी मूर्खता प्रगट करनेके सिवाय और कौनसा लाभ निकाला है।

(ङ) पहले खंडमें 'प्रायश्चित्त' नामका दसवाँ अध्याय है। इस अध्यायके शुरूमें, पहले

* मंगलाचरणके बादका पद्य निम्न प्रकार है और अन्तमें 'घत्ता' के बाद 'मद् णिम्ल होउ...' इत्यादि एक पद्य दिया है:—“ चारणावसस कैलास सैलासिओ, किणरीवेणुवीणाशुणीतोसिओ । सामवण्णो सउण्णो पसण्णो मुहो, आइ देवाण देवाहि पम्मो मुहो ॥ ३ ॥ ”

कुछ गद्य देकर 'इदं प्रायश्चित्तप्रकरणमारभ्यते' इस वाक्यके बाद, ये तीन पद्य दिये हैं; और इनके आगे बरतनोंकी शुद्धि आदिका कथन है:—

यथाशुद्धिं व्रतं धृत्वोपासकाचारसूचितम् ।
भोगोपभोगनियमं दिग्देशनियतिं तथा ॥ १ ॥

अनर्थदंडविरतिं तथा नित्यं व्रतं क्रमात् ।
अर्हदादीन्नमस्कृत्य चरणं गृहमेधिनाम् ॥ २ ॥

कथितं मुनिनाथेन ध्रुत्वा तच्छ्रावयेदधत् ।
पायाद्यातिकुलं नत्वा पुनर्दर्शनमास्त्विति ॥ ३ ॥

इन तीनों पद्योंका अध्यायके पहले पिछले कथनसे प्रायः कुछ भी सम्बंध नहीं है। तीसरे पद्यका उत्तरार्ध भी शेष पद्योंके साथ असंगत जान पड़ता है। इसलिए ये पद्य यहाँपर असंबद्ध मालूम होते हैं। इनमें लिखा है कि—'उपासकाचारमें कहे हुए भोगोपभोगपरिमाण व्रतको दिग्विरति, देशविरति तथा अनर्थदंडविरति नामके व्रतोंको और तैसे ही अन्य नित्यव्रतोंको क्रमशः यथाशक्ति धारण करके और अर्हतादिको-नमस्कार करके मुनिनाथने गृहस्थोंके चारित्रिका वर्णन किया है। उसको सुनकर उन्हें सुनावे, रक्षा करे, यतिकुलको नमस्कार करके फिरदर्शन होवे, इस प्रकार।' इस कथनकी अन्य बातोंको छोड़कर, मुनिनाथने उपासकाचारमें कहे हुए श्रावकोंके व्रतोंको धारण किया, और वह भी पूरा नहीं, यथाशक्ति ! तब कहीं गृहस्थोंके चारित्रिका वर्णन किया, यह बात बहुत सटकती है और कुछ बनती हुई मालूम न होकर असमंजस प्रतीत होती है। जैनसिद्धान्तकी दृष्टिसे मुनीश्वरोंको श्रावकोंके व्रतोंके धारण करनेकी कोई जरूरत नहीं है। वे अपने महाव्रतोंको पालन करते हुए गृहस्थोंको उनके धर्मका सब कुछ उपदेश देसकते हैं। नहीं मालूम ग्रंथकर्ताने कहाँ कहाँके पदोंको आपसमें जोड़कर यहाँपर यह

असमंजसता उत्पन्न की है। परन्तु इसे छोड़िए और एक नया दृश्य देखिए। वह यह है कि, इस अध्यायमें अनेक स्थानोंपर कीड़ी, बीडा, ताम्बूल बीडा, खटीक, चमार, मोची, डोहर, कोली, कंदी, जिमन, खाती, सोनार, ठटेरा, छीपी, तेली, नाई, डोंव, बुरुड और मनियार इत्यादि बहुतसे ऐसे शब्दोंका प्रयोग पाया जाता है जिनका हिन्दी आदि दूसरी भाषाओंके साथ सम्बंध है। संस्कृत ग्रंथमें संस्कृत वाक्योंके साथ इस प्रकारके शब्दोंका प्रयोग बहुत ही खटकता है और इनकी वजहसे यह सारा अध्याय बड़ा ही विलक्षण और बेढंगा मालूम होता है। नमूनेके तौरपर ऐसे कुछ वाक्य नीचे उद्धृत किये-जाते हैं:—

१—“चाडालकलाकचमारमोचीडोहरयोगिकोलांक-
दीनां गृहे जिमन इतर समाचारं करोति तस्य प्राय-
श्चित्त...मोकलाभिषेकाः विंशति...बीडा १०० ।”

२—“अष्टादशप्रकारजातिमन्थे सालिमालीतेलीतं-
शीसूत्रधार-खातीसोनार-ठटेराकुंभकारपरथेठछीपीनाई-
डोंवबुरुडगणीमनी-यारचित्रकार इत्यादयःप्रकारा एतेषां
गृहे भुंक्ते समाचारं करोति तस्य प्रायश्चित्तं उपवासा
३ एकभक्तानि ३ताम्बूल बीडा ४०० ।

मालूम होता है कि ग्रंथकर्ताने यह सब कथन किसी ऐसे ही खिचड़ी ग्रंथसे उठाकर रक्खा है और उसे इसको शुद्ध संस्कृतका रूप देना नहीं आया। इससे पाठक ग्रंथकर्ताकी संस्कृतसम्बंधिनी योग्यताका भी बहुत कुछ अनुभव कर सकते हैं। इस तरह पर यह ग्रंथ इधर उधरके प्रकरणोंका एक बेढंगा संग्रह है। ग्रंथकर्ता यह सब संग्रह कर तो गया, परन्तु मालूम होता है कि बादको किसी घटनासे उसे इस बातका भय जरूर हुआ है कि कहीं मेरी यह सब पोल सर्वसाधारण पर खुल न जाय। और इसलिए उसने इस ग्रंथ

पर, अपने अन्तिम वक्तव्यमें, यह आज्ञा चढ़ा दी है कि, ‘यह संहिता (भट्टारकी गद्दीपर बैठ-नेवाले) आचार्यके सिवाय और किसीको भी न दी जाय। मिथ्यादृष्टि और मूढात्माको देनेसे लोप हो जायगा। आगेके लोग पक्षपाती होंगे। यह संहिता सम्यक्दृष्टि महासूरि (भट्टारक) के ही योग्य है, दूसरेके योग्य नहीं है।’ यथा:—

संहितेयं तु कस्यापि न देया सूरिभिर्विना ॥ १५ ॥

मिथ्यात्विने च मूढाय दत्ता धर्मं विलुंपति ।

पक्षपातयुताश्चाप्रे भविष्यति जनाः खलु ॥ १६ ॥

एषा महामंत्रयुता सुप्रभावा च संहिता ।

सम्यग्दृशो महासूरैर्योग्येयं नापरस्य च ॥ १७ ॥

पाठकगण ! देखा, कैसी विलक्षणआज्ञा है ! धर्मके लोप हो जानेका कैसा अद्भुत सिद्धान्त है ! कैसी अनोखी भविष्यद्वाणी की गई है ! और किस प्रकारसे ग्रंथकर्ताने अपने मिथ्यात्व, मूढता और पक्षपात पर परदा डालनेके लिए दूसरोंको मिथ्यादृष्टि, मूढ और पक्षपाती ठहरायाहै ! साम्प्रदायिक मोह और बेशरमीकी भी हद हो गई !!! परन्तु कुछ भी हो, इस आज्ञाका इतना परिणाम जरूर निकला है कि समाजमें इस संहिताका अधिक प्रचार नहीं हो सका। और यह अच्छा ही हुआ। अब जो लोग इस संहिताका प्रचार करना चाहते हैं, समझना चाहिए कि, वे ग्रंथकर्ताके उक्त समस्त कूट, जाल और अशुक्ला-चरणके पोषक तथा अनुमोदक ही नहीं बल्कि भद्रबाहुश्रुतकेवलीकी योग्यता और उनके पवित्र नामको बड़ा लगानेवाले हैं। अगले लेखमें, विरुद्ध कथनोंका उल्लेख करते हुए, यह भी दिखलाया जायगा कि ग्रंथकर्ताने इस संहिताके द्वारा अपने किसी कुत्सित आशयको पूरा करनेके लिए लोगोंको मार्गभ्रष्ट (गुमराह) और श्रद्धान्ध्रष्ट करनेका कैसा नीच प्रयत्न किया है ।

१५-११-१६ ।

हिन्दी-जैनसाहित्यका इतिहास ।

अथवा

जैन लेखकों और कवियों द्वारा हिन्दी साहित्यकी सेवा* ।

सभापति महाशय और सभ्यवृन्द !

भारतवर्षको अपनी धार्मिक सहिष्णुताका अभिमान है। इस पुण्यभूमिमें आस्तिक, नास्तिक, वैदिक, अवैदिक, ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी आदि सभी परस्परविरुद्ध विचार रखनेवाले एक दूसरेको कष्ट दिये विना फलते-फूलते और वृद्धि पाते रहे हैं। हजारों वर्षों तक यहाँ यह हाल रहा है कि एक ही कुटुम्बमें वैदिक, जैन, और बौद्ध धर्म एक साथ शान्तिपूर्वक पाले जाते रहे हैं। मतविभिन्नता या विचारभिन्नताके कारण यहाँके लोग किसीसे द्वेष या वैर नहीं करते थे, बल्कि दूसरोंके विचारोंको आदरकी दृष्टिसे देखते थे। यही कारण है जो यहाँ चार्वाक-दर्शनके प्रणेता 'महर्षि' के महत्त्वसूचक पदसे सत्कृत किये गये हैं और वेदविरोधी भगवान् ऋषभदेव तथा बुद्धदेव 'अवतार' माने गये हैं।

पर हमारी यह अभिमानयोग्य परमतसहिष्णुता पिछले समयमें न रही और जबसे यह कम होने लगी, तभीसे शायद भारतका अधःपतन होना शुरू हो गया। लोग मतभिन्नताके कारण एक दूसरेसे घृणा करने लगे और वह घृणा इतनी बढ़ गई कि धीरे धीरे यहाँ परमतसहिष्णुता और विचारौदार्यकी हत्या ही हो गई। 'हस्तिना पीड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्' जैसे वाक्य उसी समय गढ़े गये और धार्मिक द्वेषके बीज बो दिये गये।

इस असहिष्णुता या अनुदारताने देशकी बौद्धिक और राष्ट्रीय उन्नतिके मार्गमें खूब ही काँटे बिछाये। इससे हमारी मानसिक प्रगतिको लकड़ा मार गया और हमारे साहित्यकी बाँध अनेक छोटी बड़ी सीमाओंके भीतर अवरुद्ध हो गई। इसकी कृपासे ही हमारा बहुतसा साहित्य पड़ा पड़ा सड़ गल गया और बहुतसा नष्ट कर दिया गया। यद्यपि अब भी हमको इस बलाके पंजेसे छुट्टी नहीं मिली है—न्यूनाधिक रूपमें उसका व्यक्त अव्यक्त प्रभाव हमारे हृदयों पर अब भी बना हुआ है; तो भी सौभाग्यवश हम नये ज्ञानके प्रकाशमें आ पड़े हैं जिससे हमारी आँखें बहुत कुछ खुल गई हैं। हम धीरे धीरे अपने पुराने मार्गपर आने लगे हैं, विचारभिन्नताका आदर करने लगे हैं और अपने पराये सभी धर्मोंको उदार दृष्टिसे देखने लगे हैं।

आज हिन्दीसाहित्यसम्मेलनके इस प्लेटफार्म पर मुझे जो 'जैन लेखकों और कवियों द्वारा हिन्दी साहित्यकी सेवा' पर यह निबन्ध पढ़नेकी आज्ञा दी गई है सो मेरी समझमें इसी प्रकाशका ही परिणाम है। मुझे आशा है कि हमारी यह उदारता दिन पर दिन बढ़ती जायगी और कमसे कम हमारी साहित्यसम्बन्धी संस्थाओंसे तो धार्मिक पक्षपात सर्वथा ही हट जायगा।

प्रसंगवश ये थोड़ेसे शब्द कहकर अब मैं अपने विषयकी ओर आता हूँ।

* सप्तम हिन्दीसाहित्यसम्मेलन, जबलपुरमें पढ़े जानेके लिए जैनहितैषी-सम्पादक द्वारा लिखित।

१ जैनसाहित्यका महत्त्व ।

हिन्दीका जैन साहित्य बहुत विशाल है और बहुत महत्त्वका है । भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे उसमें कुछ ऐसी विशषतायें हैं जो जैनेतर साहित्यमें नहीं हैं ।

१ हिन्दीकी उत्पत्ति और क्रमविकासके इतिहासमें इससे बहुत बड़ी सहायता मिलेगी । हिन्दीकी उत्पत्ति जिस प्राकृत या मागधीसे मानी जाती है, उसका सबसे अधिक परिचय जैन विद्वानोंको रहा है । अभीतक प्राकृत या मागधीका जितना साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसका अधिकांश जैनोंका ही लिखा हुआ है । यदि यह कहा जाय कि प्राकृत और मागधी शुरूसे अबतक जैनोंकी ही सम्पत्ति रही है, तो कुछ अत्युक्ति न होगी । प्राकृतके बाद और हिन्दी-गुजराती बननेके पहले जो एक अपभ्रंश भाषा रह चुकी है उस पर भी जैनोंका विशेष अधिकार रहा है । इस भाषाके अभी अभी कई ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, और वे सब जैन विद्वानोंके बनाये हुए हैं । प्राकृत और अपभ्रंशके इस अधिक परिचयके कारण, जैन विद्वानोंने जो हिन्दी रचना की है उसमें प्राकृत और अपभ्रंशकी प्रकृति सुस्पष्ट झलकती है; यहाँ तक कि १९ वीं और २० वीं शताब्दीके जैनग्रन्थोंकी हिन्दीमें भी औरोंकी अपेक्षा प्राकृत और अपभ्रंश शब्दोंका प्रयोग अधिक पाया जाता है । ऐसी दशामें स्पष्ट है कि हिन्दीकी उत्पत्ति और क्रमविकाशका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए हिन्दीका जैनसाहित्य बहुत उपयोगी होगा ।

२ गुजराती साहित्यके विद्वानोंका खयाल है कि गुजराती भाषाका जो प्राचीनरूप है, वह अपभ्रंश प्राकृत है । हमारी समझमें प्राचीन हिन्दीका आदिस्वरूप भी, जैसा कि आगे

दिखाया जायगा, प्राकृतके अपभ्रंशसे मिलता जुलता है । यह संभव है कि प्राचीन हिन्दीकी शरीररचनामें अन्य भाषाओंका भी थोड़ा बहुत हाथ रहा हो, पर उसकी मूल जननी तो अपभ्रंश ही है । ऐसा जान पड़ता है कि प्राकृतका जब अपभ्रंश होना आरंभ हुआ, और फिर उसमें भी विशेष परिवर्तन होने लगा, तब उसका एक रूप गुजरातीके साँचेमें ढलने लगा और एक हिन्दीके साँचेमें । यही कारण है जो हम १६ वीं शताब्दीसे जितने ही पहलेकी हिन्दी और गुजराती देखते हैं, दोनोंमें उतनी ही अधिक सदृशता दिखलाई देती है । यहाँ तक कि १३ वीं १४ वीं शताब्दीकी हिन्दी और गुजरातीमें एकताका भ्रम होने लगता है । उदयवन्त मुनिके 'गौतम-रासा'को जो वि० संवत् १४१२ में बना है विचारपूर्वक देखा जाय, तो मालूम हो कि उसकी भाषाकी गुजरातीके साथ जितनी सदृशता है, हिन्दीके साथ उससे कुछ कम नहीं है * । गुजराती और हिन्दीकी यह सदृशता कहीं कहीं और भी स्पष्टतासे दिखलाई देती है । कल्याणदेवमुनिके 'देवराज वच्छराज चउपई,' नामके ग्रंथसे—जो सं० १६४३ में बना है और जिसकी भाषा गुजरातीमिश्रित हिन्दी है—हमने कुछ पद्य आगे उद्धृत किये हैं, जिनमें बहुत कम शब्द ऐसे हैं जिन्हें प्राचीन हिन्दी जाननेवाला या प्राचीन गुजराती समझनेवाला न समझ सकता हो । गुजरातके पुस्तकालयोंमें ऐसे बीसों रासे मिलेंगे, जो गुजरातीकी अपेक्षा, हिन्दीके निकटसम्बन्धी हैं; पर वे गुजराती ही समझे जाते हैं । माल कविका 'पुरंदर-कुमर-चउपई' नामका जो ग्रन्थ है,

* गौतमरासाके पद्योंके कुछ नमूने आगेके पृष्ठोंमें दिये गये हैं ।

उसे लोगोंने अभीतक गुजराती ही समझ रक्खा था;पर अब सुपण्डित मुनि जिनविजयजीने उसको अच्छी तरह पढ़ करके मुझको लिखा है कि वह निस्सन्देह हिन्दी ग्रन्थ है। गरज यह कि हिन्दी और गुजराती एक ही प्राकृतसे अपभ्रंश होकर बनी हैं; इस कारण उनके प्रारंभके—एक दो शताब्दियोंके—रूप मिलते-जुलते हुए हैं। हिन्दी भाषाका इतिहास विना इन मिलते-जुलते रूपोंका अध्ययन किये नहीं लिखा जा सकता, इस कारण इसके लिए हिन्दीका जैनसाहित्य खास तौरसे पढ़ा जाना चाहिए। इस कार्यमें यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

३ जिस तरह संस्कृत और प्राकृतके जैन-साहित्यने भारतके इतिहासकी रचनामें बहुत बड़ी सहायता दी है, उसी तरह हिन्दीका जैनसाहित्य भी अपने समयके इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश डालेगा। जैन विद्वानोंका इतिहासकी ओर सदासे ही अधिक ध्यान रहा है। प्रत्येक जैन लेखक अपनी रचनाके अन्तमें अपने समयके राजाओंका तथा गुरुपरम्पराका कुछ न कुछ उल्लेख अवश्य करता है। यहाँ तक कि जिन लोगोंने ग्रन्थोंकी नकलें कराई हैं, और दान किया है उनका भी कुछ न कुछ इतिहास उन ग्रन्थोंके अन्तमें लिखा रहता है। जैन लेखकोंमें विशेष करके श्वेताम्बरोंमें पौराणिक चरित्रोंके सिवाय ऐतिहासिक पुरुषोंके चरित्र लिखनेकी भी पद्धति रही है। खोज करनेसे भोज-प्रबन्ध, कुमारपाल-चरित्र, आदिके समान और भी अनेक ग्रन्थोंके मिलनेकी संभावना है। 'मूता नेण-सीकी ख्यात' जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थ भी जैनोंके द्वारा लिखे गये हैं जो बहुतसी बातोंमें अपनी सानी नहीं रखते। श्वेताम्बर यत्तियोंके पुस्तकालयोंमें इतिहासकी बहुत सामग्री है और वह हिन्दी या मारवाड़ीमें ही है। कर्नल टाडको अपना

ग्रन्थ 'राजस्थान' लिखनेमें जिनसे बड़ी भारी सहायता मिली थी, वे ज्ञानचन्द्रजी यति एक जैन साधु ही थे। कविवर बनारसीदासजीका आत्मचरित अपने समयकी अनेक ऐतिहासिक बातोंसे भरा हुआ है। मुसलमानी राज्यकी अंधा-धुंधीका उसमें जीता जागता चित्र है। इस तरह इतिहासकी दृष्टिसे भी हिन्दीका जैनसाहित्य महत्त्वकी वस्तु है।

४ अभी तक हिन्दी साहित्यकी जो खोज हुई है उसमें गद्यग्रन्थोंकी ही प्रधानता है। गद्य ग्रन्थ बहुत ही थोड़े हैं। परन्तु जैनसाहित्यमें गद्य ग्रन्थ भी बहुतसे उपलब्ध हैं। आगे ग्रन्थ-कर्ताओंकी सूचीसे मालूम होगा कि उन्नीसवीं शताब्दीके बने हुए पचासों गद्यग्रन्थ जैनसाहित्यमें हैं। अठारहवीं शताब्दीके भी पाँच सात गद्यग्रन्थ हैं। सत्रहवीं शताब्दीमें पं० हेमराजजीने पंचास्तिकाय और प्रवचनसारकी वचनिकायें लिखी हैं। समयसारकी पाँडे रायमल्लजीकृत बालावबोधटीका इनसे भी पहलेकी बनी हुई है। आश्चर्य नहीं जो वह सोलहवीं शताब्दी या उससे भी पहलेकी गद्य-रचना हो। पर्वत धर्मार्थीकी बनाई हुई 'समाधि-तंत्र' नामक ग्रन्थकी एक वचनिका है जो सोलहवीं शताब्दीके बादकी नहीं मालूम होती। गरज यह कि जैनसाहित्यमें गद्यग्रन्थ बहुत हैं, इसलिए गद्यकी भाषाका विकासक्रम समझनेके लिए भी यह साहित्य बहुत उपयोगी है।

२ जैनसाहित्यके अप्रकट रहनेके कारण।

१ ज्यों ही देशमें छापेका प्रचार हुआ, त्यों ही जैनसमाजको भय हुआ कि कहीं हमारे ग्रन्थ भी न छपने लगे। लोग सावधान हो गये और जीजानसे इस बातकी कोशिश करने लगे

कि जैनग्रन्थ छपने न पावें। इधर कुछ लोगों-पर नया प्रकाश पड़ा और उन्होंने जैनग्रन्थोंके छपानेके लिए प्रयत्न करना शुरू किया। लगातार २० वर्ष तक दोनों दलोंमें अनवरत युद्ध चला और अभी वर्ष ही दो वर्ष हुए हैं, जब इसकी कुछ कुछ शान्ति हुई है। फिर भी जैन-समाजमें ऐसे मनुष्योंकी कमी अब भी नहीं है जिन्हें पक्का विश्वास है कि ग्रन्थ छपानेवाले नर-कर्म जायेंगे और वहाँ उन्हें असह्य यातनायें सहनी पढ़ेंगी ! और समाजोंमें भी थोड़ा थोड़ा छापेका विरोध शुरू शुरूमें हुआ था, पर जैनसमाज सरीखा विरोध शायद ही कहीं हुआ हो। इसने इस विषयमें सबको नीचा दिखला दिया। अभी तीन ही चार वर्ष हुए हैं जब 'जैन-रत्नमाला' और 'जैनपताका' नामके मासिक पत्र छापेका विरोध करनेके लिए ही निकलते थे और ग्रन्थ छपानेवालोंको पानी पी पक़र कोसते थे। ऐसी दशामें जब कि स्वयं जैनोंकी ही हिन्दीका जैनसाहित्य सुगमतासे मिलनेका उपाय नहीं था, तब सर्वसाधारणके निकट तो वह प्रकट ही कैसे हो सकता था !

२ एक तो जैनसमाज इतना अनुदार है कि वह अपने ग्रन्थ दूसरोंके हाथमें देनेसे स्वयं हिचकता है और फिर जैनधर्मके प्रति सर्वसाधारणके भाव भी कुछ अच्छे नहीं हैं। नास्तिक वेद-विरोधी आदि समझकर वे जैनसाहित्यके प्रति अरुचि या विरक्ति भी रखते हैं। शायद उन्हें यह भी मालूम नहीं है कि हिन्दीमें जैनधर्मका साहित्य भी है और वह कुछ महत्त्व रखता है। ऐसी दशामें यदि जैनसाहित्य अप्रकट रहा और लोग उससे अनभिज्ञ रहे, तो कुछ आश्चर्य नहीं है।

३ हिन्दीका जैनसाहित्य दो भागोंमें विभक्त है एक दिगम्बर और दूसरा श्वेताम्बर। दिग-

म्बर सम्प्रदायकी प्रधान भाषा हिन्दी है, और श्वेताम्बर सम्प्रदायकी गुजराती। श्वेताम्बरोंकी बस्ती यद्यपि राजपूताना, युक्तप्रान्त और पंजाबमें भी कम नहीं है; परन्तु उक्त प्रान्तोंमें शिक्षाप्राप्त जैनोंकी कमीसे और गुजरातमें शिक्षित जैनोंकी अधिकतासे इनकी धार्मिक चर्चामें गुजराती भाषाका प्राधान्य हो रहा है। श्वेताम्बर सम्प्रदायके साधुओंमें भी गुजराती जाननेवालोंकी ही संख्या अधिक है, इसलिए उनके द्वारा भी सर्वत्र गुजरातीकी ही तूती बोलती है। ऐसी दशामें यदि हिन्दीका श्वेताम्बरसाहित्य पड़ा रहे, उसकी कोई ढूँढ़ खोज न करे, तो क्या आश्चर्य है। जहाँ तक हम जानते हैं, श्वेताम्बर सम्प्रदायके बहुत ही कम लोगोंको यह मालूम है कि हिन्दीमें भी श्वेताम्बर साहित्य है। इस तरह हिन्दी-भाषाभाषी श्वेताम्बरोंकी उपेक्षा, अनभिज्ञता और गुजरातीकी प्रधानताके कारण भी हिन्दीके जैनसाहित्यका एक बड़ा भाग अप्रकट हो रहा है।

४ जैनसमाजके विद्वानोंकी अरुचि या उपेक्षा-दृष्टि भी हिन्दी जैनसाहित्यके अप्रकट रहनेमें कारण है। उच्च श्रेणीकी अँगरेजी शिक्षा पाये हुए लोगोंकी तो इस ओर रुचि ही नहीं है। उन्हें तो इस बातका विश्वास ही नहीं है कि हिन्दीमें भी उनके सोचने और विचारनेकी कोई चीज मिल सकती है। अभी तक शायद एक भी हिन्दीके जैनग्रन्थको यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है कि उसका सम्पादन या संशोधन किसी जैन ग्रेज्युएटने किया हो। शेष रहे संस्कृतज्ञ सज्जन, सो उनकी दृष्टिमें बेचारी हिन्दीकी-भाषाकी-औ-कृत ही क्या है? वे अपनी संस्कृतकी धुनमें ही मस्त रहते हैं। हिन्दी लिखना भी उनमेंसे बहुत कम सज्जन जानते हैं।

३ खोजकी जरूरत ।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं श्वेताम्बरोंका हिन्दी साहित्य अभीतक प्रकाशित ही नहीं हुआ है। पर हमें विश्वास है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायका भी बहुतसा साहित्य तलाश करनेसे मिल सकता है। अभी थोड़े ही दिन पहले हमने जोधपुरके प्रसिद्ध इतिहासज्ञ मुंशी देवीप्रसादजीको पत्र लिखकर हिन्दीके जैन साहित्यके विषयमें कुछ पूछताछ की थी। उसके उत्तरमें उन्होंने लिखा था कि “ओसवालोंके बहुतसे ग्रन्थ यहाँ ढूँढ़नेसे मिल सकते हैं। मैंने उनकी कविता संग्रह की है। आप छापें, तो मैं ग्रन्थाकारमें तैयार करा कर भेजूँ। हर एक कविकी कुछ कुछ जीवनी भी है।”

१ राजपूताना और मालवेके यतियोंके पुस्तकालयोंमें हिन्दीके प्राचीनग्रन्थोंके मिलनेकी आशा है। अभी हमने इन्दौरके यतिवर्य श्रीयुत माणिकचन्द्रजीके सेवामें एक पत्र इस विषयमें लिखा था कि उन्होंने अपनी ‘जगरूप-जति-लायब्रेरी’ के १०० से अधिक जैन ग्रन्थोंकी सूची तैयार करके भेज दी जिनमें उनके कथनानुसार हिन्दी या हिन्दीमिश्रित गुजराती ग्रन्थ ही अधिक हैं और उनमेंसे जिन चार ग्रन्थोंके देखनेकी हमने इच्छा प्रकट की, उन्हें भी भेज दिया। इस तरह और और यतियोंके पुस्तकालयोंमें भी सैकड़ों ग्रन्थ होंगे।

२ पाटण, जैसलमेर, ईडर, जयपुर आदिके प्राचीन पुस्तकभण्डारोंमें हिन्दी ग्रन्थोंका अन्वेषण खास तौरसे होना चाहिए। अभीतक इन भण्डारोंका अन्वेषण संस्कृतके पण्डितोंने ही किया है, जिनकी दृष्टिमें भाषाका कोई महत्त्व नहीं है। यह भी संभव है कि उक्त भण्डारोंके प्राचीन हिन्दी ग्रन्थ प्राकृत समझ लिये गये हों। अभी मुनि महोदय जिनविजयजीको पाटणके

भण्डारमें मालकविके ‘भोजप्रबन्ध’ और ‘पुरन्दर-कुमर-चउपई’ नामके दो हिन्दी ग्रन्थ मिले हैं।

३ इस निबन्धमें आगे हमने जिन ग्रन्थोंका उल्लेख किया है, उनका बहुत बड़ा भाग आगरे और जयपुरके आस-पासका बना हुआ है। बुन्देलखंड आदि प्रान्तोंमें भी बहुतसे हिन्दी जैनग्रन्थ मिलनेकी संभावना है। जयपुरमें कोई दोसौ तीनसौ वर्षोंसे ऐसा प्रबन्ध है कि यहाँसे ग्रन्थ लिखा लिखाकर दूर दूरके लोग ले जाते हैं अथवा लिखकर मँगवा लेते हैं। यही कारण है जो सारे दिगम्बर सम्प्रदायमें यहीके और यहाँसे निकट सम्बन्ध रखनेवाले आगरेके बने हुए ही हिन्दी-ग्रन्थोंका फैलाव हो गया है। अन्यत्र जो ग्रन्थ बने होंगे, वे प्रचारकी उक्त सुविधा न होनेके कारण वहीं पड़े रहे होंगे। यह सच है कि आगरे और जयपुरमें विद्वानोंका समूह अधिक रहा है, इतना और स्थानोंमें नहीं रहा है, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि अन्यत्र विद्वान् थे ही नहीं और उन्होंने ग्रंथरचना सर्वथा की ही नहीं। अतः अन्यत्र खोज होनी चाहिए।

४ जहाँ जहाँ दिगम्बर सम्प्रदायके भट्टारकोंकी गढ़ियाँ हैं वहाँ वहाँके सरस्वतीमन्दिरोंमें भी अनेक हिन्दीके ग्रन्थोंके प्राप्त होनेकी आशा है। हमारा अनुमान है कि भट्टारकोंके बनाये हुए हिन्दीग्रन्थ बहुत होने चाहिए, परन्तु हमारे इस निबन्धमें आप देखेंगे कि चार ही छह भट्टारकोंके ग्रन्थोंका उल्लेख है। जयपुरमें तेरह पंथका बहुत जोर रहा है, इसी कारण उसके प्रतिपक्षी भट्टारकोंके ग्रन्थोंका वहाँसे अधिक प्रचार नहीं हो सका है। भट्टारकोंका साहित्य उन्हींके भंडारोंमें पड़ा होगा।

५ दक्षिण और गुजरातमें भी खोज करनेसे हिन्दीग्रन्थ मिलेंगे। गुजराती और मराठीमें दिग-

म्बरी साहित्य प्रायः बिल्कुल नहीं है, इस कारण इन प्रान्तोंके दिगम्बरियोंका काम हिन्दीग्रन्थोंसे ही चलता रहा है। अतएव यहाँके भण्डारोंमें भी हिन्दीके दिगम्बर ग्रन्थ मिलेंगे। दो तीन वर्ष पहले हमने बासी (शोलापुर) से दो ऐसे हिन्दी ग्रन्थ मँगाकर देखे थे, जो इस ओर कहीं भी नहीं मिलते हैं।

४ अपूर्ण खोज ।

मेरा यह निबन्ध पूरी खोजसे तैयार नहीं हो सका है। जयपुरमें बाबा दुलीचन्द्रजीका हस्तालिखित भाषाग्रन्थोंका एक अच्छा पुस्तकालय है, उसकी सूचीसे, बाबू ज्ञानचन्द्रजी लाहौरवालोंकी ग्रन्थनाममालासे, छपे हुए ग्रन्थोंसे, पूज्य पं० पन्नालालजी द्वारा बनीहुई जयपुरके कुछ भण्डारोंकी सूचीसे और बम्बईके तेरहपंथी मन्दिरके पुस्तकालयके ग्रन्थोंसे मैंने यह निबन्ध तैयार किया है। जिन लेखकोंका समयादि नहीं मिला है, उनको प्रायः छोड़ दिया है। यदि लेखकके सामने सबके सब ग्रन्थ होते, तो वह इस निबन्धको और भी अच्छी तरहसे लिख सकता।

लेखकको विश्वास है कि खोज करनेसे हिन्दीके प्राचीन जैनग्रन्थ बहुत मिलेगी और उनसे यह निश्चय करनेमें सहायता मिलेगी कि हिन्दीका लिखना कबसे शुरू हुआ।

‘जैन लेखकों और कवियों द्वारा हिन्दी साहित्यकी सेवा’ यह विषय ऐसा है कि इसमें सन् संवत् न दिया जाता तो भी काम चल सकता था; परन्तु जब निबन्ध लिखना शुरू किया गया, तब यह सोचा गया कि इसके साथ साथ यदि लेखकोंका इतिहास भी दे दिया जाय, तो एक और काम हो जायगा और समय भी अधिक न लगेगा। अतः इसमें कवियोंका थोड़ा थोड़ा परिचय भी शामिल कर दिया गया है। ऐसा

करनेसे निबन्ध बहुत बढ़ गया है और इस कारण मुझे भय है कि इसके पढ़नेके लिए समय मिलेगा या नहीं; तो भी यह निश्चय है कि मेरा परिश्रम व्यर्थ न जायगा। हिन्दीके सेवक इससे कुछ न कुछ लाभ अवश्य उठाँगे।

५ उपलब्ध जैनसाहित्यके विषयमें विचार ।

१ उपलब्ध जैनसाहित्य दो भागोंमें विभक्त हो सकता है—श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर सम्प्रदायके साहित्यमें कथाग्रन्थ ही अधिक हैं, तात्त्विक या सैद्धान्तिक ग्रन्थ प्रायः नहींके बराबर हैं, पर दिगम्बर साहित्यमें जितने कथाग्रन्थ या चरित्रग्रन्थ हैं लगभग उतने ही तात्त्विक और सैद्धान्तिक ग्रन्थ हैं। गोम्मटसार, राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, आत्मख्याति, भगवती आराधना, प्रवचनसार, समयसार, पंचास्तिकाय जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थोंकी वचनिकार्यें दिगम्बरसाहित्यमें मौजूद हैं। किसी किसी ग्रन्थके तो दो दो चार चार गद्यपद्यानुवाद मिलते हैं। देवागम, परीक्षामुख, न्यायदीपिका, आप्तमीमांसा आदि न्यायके ग्रन्थों तकके हिन्दी अनुवाद कर डाले गये हैं। ऐसा कहना चाहिए कि दिगम्बरियोंके संस्कृत और प्राकृत साहित्यमें जिन जिन विषयोंके ग्रन्थ मिलते हैं, प्रायः उन सभी विषयों पर हिन्दीमें कुछ न कुछ लिखा जा चुका है। हिन्दीके लिए यह बड़े गौरवकी बात है। यदि कोई चाहे तो वह केवल हिन्दी भाषाके द्वारा दिगम्बर जैनधर्मका ज्ञाता हो सकता है। इसका फल भी स्पष्ट हो रहा है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो लोग संस्कृत और प्राकृत नहीं जानते हैं, उनमें धार्मिक ज्ञानका प्रायः अभाव देखा जाता है—प्रायः लोग मुनिमहाराजोंके ही भरोसे रहते हैं; पर दिगम्बर सम्प्रदायमें यह बात नहीं है। यहाँ जैनधर्मकी जानकारी रखनेवाले जगह जगह मौजूद

हैं, गोम्मटसार आदिकी गंभीर चर्चा करनेवाले सैकड़ों ऐसे भाई हैं, जो संस्कृतका अक्षर भी नहीं जानते हैं। गाँव गाँवमें शास्त्रसभायें होती हैं और लोग भाषा ग्रन्थोंका स्वाध्याय करते हुए नजर आते हैं।

२ हिन्दीके जैनग्रन्थोंका प्रचार केवल हिन्दी-भाषाभाषी प्रान्तोंमें ही नहीं है; गुजरात और दक्षिणमें भी है। दक्षिण और गुजरातके जैनोंके द्वारा हिन्दीके कई बड़े बड़े ग्रन्थ छपकर भी प्रकाशित हुए हैं। सुदूर कर्नाटक तकमें—जहाँ हिन्दी बहुत कम समझी जाती है—बहुतसे हिन्दी ग्रन्थ जाते हैं और पढ़े जाते हैं। एक तरहसे हिन्दी दिगम्बर सम्प्रदायकी सर्वसामान्य भाषा बन गई है। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि 'जैन-मित्र' आदि हिन्दी पत्रोंके एक चौथाईसे भी अधिक ग्राहक गुजरात और दक्षिणमें हैं। इस तरह दिगम्बर सम्प्रदायके हिन्दी साहित्यके द्वारा हिन्दी भाषाका दूसरे प्रान्तोंमें भी प्रचार हो रहा है।

३ जैनधर्मका एक सम्प्रदाय और है जिसे 'स्थानकवासी' या 'दूँदिया' कहते हैं। हम समझते थे कि इस सम्प्रदायका भी हिन्दी साहित्य होगा। क्योंकि इस सम्प्रदायके अनुयायी ४-५ लाख समझे जाते हैं और वे राजपूताना तथा पंजाबमें अधिक हैं, परन्तु तलाश करनेसे मालूम हुआ कि इस सम्प्रदायमें हिन्दीके ग्रन्थ प्रायः नहींके बराबर हैं। स्थानकवासी सम्प्रदायके साधु श्रीयुत आत्मारामजी उपाध्यायसे इस विषयमें पूछताछ की गई तो मालूम हुआ कि स्थानकवासियोंमें पं० हरजसरायजी आदि दो तीन ही कवि हुए हैं जिनके चार पाँच ग्रन्थ मिलते हैं और थोड़ी बहुत पुस्तकें अभी अभी लिखी गई हैं। इस सम्प्रदाय पर भी गुजराती भाषाका आधिपत्य हो रहा है। संभव है

कि खोज करनेसे इस सम्प्रदायके भी दश पाँच हिन्दी ग्रन्थ और मिल जावें।

४ श्वेताम्बरी और दिगम्बरी साहित्यमें एक उल्लेख योग्य बात यह नजर आती है कि सारे श्वेताम्बरसाहित्यमें दो चार ही ग्रन्थ ऐसे होंगे जिनके कर्ता गृहस्थ या श्रावक हों, इसके विरुद्ध दिगम्बर साहित्यमें दश पाँच ही हिन्दी ग्रन्थ ऐसे मिलते हैं जिनके कर्ता भट्टारक या साधु हों। प्रायः सारा ही दिगम्बर साहित्य गृहस्थों या श्रावकोंका रचा हुआ है। दिगम्बर सम्प्रदायमें साधु-संघका अभाव कोई ४००-५०० वर्षोंसे हो रहा है। यदि इस सम्प्रदायके अनुयायी श्वेताम्बरोंके समान केवल साधुओंका ही मुँह ताकते रहते, तो आज इस सम्प्रदायकी दुर्गति हो जाती। इस सम्प्रदायके गृहस्थोंने ही गुरुओंका भार अपने कंधोंपर ले लिया और अपने धर्मको बचा लिया। इन्होंने गत दो सौ तीन सौ वर्षोंमें हिन्दी साहित्यको अपनी रचनाओंसे भर दिया।

५ इन दोनों सम्प्रदायोंके साहित्यमें एक भेद और भी है। श्वेताम्बर साहित्यमें अनुवादित ग्रन्थ बहुत ही कम हैं, प्रायः स्वतंत्र ही अधिक हैं, और दिगम्बर साहित्यमें स्वतंत्र ग्रन्थ बहुत कम हैं, अनुवादित ही अधिक हैं। इसका कारण यह मालूम होता है कि परम्परागत संस्कारके अनुसार गृहस्थ या श्रावक अपनेको ग्रन्थरचनाका अनधिकारी समझता है। उसे भय रहता है कि कहीं मुझसे कुछ अन्यथा न कहा जाय। इस लिए दिगम्बर साहित्यकी रचना करनेवाले गृहस्थ लेखक और कवियोंको स्वतंत्र ग्रन्थ रचनेका साहस बहुत ही कम हुआ है—सबने पूर्वरचित संस्कृत ग्रन्थोंके ही अनुवाद किये हैं। कई अनुवादक इतने अच्छे विद्वान् हुए हैं कि यदि वे चाहते, तो उनके लिए दो दो चार चार स्वतंत्र ग्रन्थोंकी रचना करना कोई बड़ी बात नहीं थी। पर

उन्होंने ऐसा नहीं किया। जब हम पं० जय-चन्द्रजीके अनुवाद किये हुए ग्रन्थोंकी सूचीमें 'भक्तामरचरित्र' का नाम देखते हैं, तब इनकी 'प्राचीन-श्रद्धा' पर आश्चर्य होता है। संस्कृतमें भट्टारकोंके बनाये हुए ऐसे पचासों ग्रन्थ हैं जो रचनाकी दृष्टिसे कौड़ी कामके नहीं हैं, तो भी उनके हिन्दी अनुवाद हो गये हैं और अनुवाद करनेवालोंमें बहुतसे ऐसे हैं जो यदि चाहते तो मूलसे भी कई गुणी अच्छी रचना कर सकते थे—वे स्वयं ही मूलसे अच्छी संस्कृत लिखनेकी योग्यता रखते थे।

६ हिन्दीके जैनसाहित्यको हम चार भागोंमें विभक्त करते हैं,—एक भागमें तो तात्त्विक ग्रन्थ हैं, दूसरेमें पुराण चरित्र कथादि हैं, तीसरेमें पूजा पाठ हैं और चौथेमें पदभजन विनती आदि हैं। इनमेंसे पहले तीन प्रकारके ग्रन्थोंका परिमाण लगभग बराबर बराबर होगा। पहले दो विषय ऐसे हैं कि उन पर चाहे जितना लिखा जा सकता है, पर यह बात लोगोंकी समझमें कम आयगी कि पूजापाठके ग्रन्थ भी उक्त दोनों विषयोंके ही बराबर हैं। सचमुच ही इस विषयमें जैनोंने 'अति' कर डाली है। हमने अपने इस निबन्धमें जो जुदे जुदे कवियोंके ग्रन्थ बतलाये हैं, उनमें पूजापाठके ग्रन्थ प्रायः छोड़ दिये हैं और जिन कवियोंने केवल पूजापाठोंकी ही रचना की है, उनका तो हमने उल्लेख भी नहीं किया है। एक ही एक प्रकारके पूजा पाठ दश दश बीस बीस कवियोंने बनानेकी कृपा की है। चौबीसी पूजापाठ तो कमसे कम २०-२५ कवियोंके बनाये हुए होंगे। इनका ताँता अबतक भी लगा जा रहा है; लोगोंको अब भी संतोष नहीं है। केवलारी (सिवनी) के एक सज्जनने अभी हाल ही एक पूजापाठ रचकर प्रकाशित किया है। कुचामनके पं० जिनेश्वरदासजनि भी सुनते

हैं कि एक चौबीसी पूजापाठ बना डाला है। मजा यह है कि इन सब रचनाओंमें विशेषता कुछ नहीं। सबमें एक ही बात। एक दूसरेका अनुकरण। इनका बनाना भी चूरनके लटकोंसे ज्यादा कठिन नहीं है। जिसके जीमें आता है वही एक पूजा बना डालता है। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि संस्कृत और प्राकृतमें पूजापाठके ग्रन्थ बहुत ही कम उपलब्ध हैं, और जो हैं वे उच्च श्रेणीके हैं। पर हिन्दी-वालोंने इसके लिए मूलग्रन्थोंका सहारा लेनेकी जरूरत नहीं समझी। बस, इसी एक विषयके ग्रन्थोंकी हिन्दी-जैनकवियोंने सबसे अधिक स्वतंत्र रचना की है! पिछले दिनोंमें जैनसम्प्रदायमें पूजा प्रतिष्ठाओंको जो विशेष प्रधानता दी गई है, उसीका यह परिणाम है। इस समयकी दृष्टिसे जैनोंका सबसे बड़ा काम पूजा-प्रतिष्ठा करना-कराना है। पद-भजन-स्तवनादि सम्बन्धी चौथे प्रकारके साहित्य पहले तीन प्रकारका साहित्यों जितना तो नहीं है, तो भी कम नहीं है। परिश्रम करनेसे कई हजार जैनपदोंका संग्रह हो सकता है। भूधर, दयानत, दौलत, भागचन्द्र, बनारसी आदिके पद अच्छे समझे जाते हैं। इनका प्रचार भी खूब है। इस साहित्यसे और पूजासाहित्यसे जैनधर्ममें 'भक्तिरस' की बहुत पुष्टि हुई है। किसी किसी कविने तो इस रसके प्रवाहमें बहकर मानो इस बातको भुला ही दिया है कि 'जैनधर्म ईश्वरके कर्तापनेको स्वीकार नहीं करता, अतः उसमें भक्तिकी सीमा बहुत ही मर्यादित है।' इस विषयमें जान पड़ता है जैनधर्म पर वैष्णवधर्मके भक्तिमार्गका ही बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। कहीं कहीं यह प्रभाव बहुत ही स्पष्ट हो गया है। एक कवि कहता है—“नाथ मोहि जैसे बने तैसे तारो; मोरी करनी कछु न विचारो।” 'करनी' को ही ईश्वर माननेवाले

जैन कविके इन वचनोंमें देखिए ईश्वरके कर्तृ-भावका कितना गहरा प्रभाव है ।

७ हिन्दीके जैनसाहित्यकी प्रकृति शान्तरस है । इसके प्रत्येक ग्रन्थमें इसी रसकी प्रधानता है । शृंगारादि रसोंके ग्रन्थोंका इसमें प्रायः अभाव है । इतने बड़े साहित्यमें एक भी अलंकार या नायिकाभेद आदिका ग्रन्थ देखनेमें नहीं आया । जयपुरके एक पुस्तकभण्डारकी सूचीमें दीवान लालमाणिके 'रसप्रकाश अलंकार' नामके ग्रन्थका उल्लेख है; पर हमने उसे देखा नहीं । सुनते हैं हनुमच्चरित्र और शान्तिनाथचरित्रके कर्ता सेवाराम राजपूतने भी एक 'रसग्रन्थ' बनाया था; पर वह अप्राप्य है । कविवर बनारसीदासजीकी भी कुछ शृंगाररसकी रचना थी, पर उन्होंने उसे यमुनामें बहा दिया था !

संस्कृत और प्राकृतमें जैनोंके बनाये हुए शृंगारादिके ग्रन्थ बहुत मिलते हैं । उस समयके जैनविद्वानोंको तो इस विषयका परहेज नहीं था । यहाँ तक कि बड़े बड़े मुनियोंके बनाये हुए भी काव्यग्रन्थ हैं जो शृंगाररससे लबालब भरे हुए हैं । तब यह एक विचारणीय बात है कि हिन्दीके लेखकोंने इस ओर क्यों ध्यान नहीं दिया । इसका कारण यही जान पड़ता है कि जिस समय जैनोंने हिन्दीके ग्रन्थ लिखे हैं उस समय उन्हें जैनधर्मका ज्ञान फैलानेकी, और जैनधर्मकी रक्षा करनेकी ही धुन विशेष थी । उनका ध्येय धर्म था, साहित्य नहीं । इसी कारण उन्होंने इस ओर कोई खास प्रयत्न नहीं किया । पर उन्हें इस विषयसे कोई परहेज नहीं था । यही कारण है जो उन्होंने स्त्रियोंके नख-शिसवर्णन और विविध शृंगारचेष्टाओंसे भरे हुए आदिपुराण आदिके अनुवाद लिखनेमें संकोच नहीं किया है । हाँ खालिस शृंगार और अलंका-

रादिके निरूपण करनेवाले ग्रन्थ उन्होंने नहीं लिखे ।

९ यह हमें मानना पड़ेगा कि जैन कवियोंमें उच्च श्रेणीके कवि बहुत ही थोड़े हुए हैं । बनारसीदास सर्वश्रेष्ठ जैनकवि हैं । रूपचन्द, भूधरदास, भगवतीदास, आनन्दघन, उच्चश्रेणीमें गिने जा सकते हैं । दीपचन्द, दानतराय, माल, यशोविजय, वृन्दावन, बुलाक्रीदास, दौलतराम, बुधजन आदि दूसरी श्रेणीके कवि हैं । इनकी संख्या भी कम है । तीसरे दर्जेके कवि अगणित हैं । जो उच्चश्रेणीके कवि हुए हैं, उन्होंने प्रायः ऐसे विषयोंपर रचना की है जिनको साधारण बुद्धिके लोग समझ नहीं सकते हैं । चरित या कथाग्रन्थोंकी यदि ये लोग रचना करते तो बहुत लाभ होता । चरितोंमें एक पार्श्वपुराण ही ऐसा है जो एक उच्चश्रेणीके कविके द्वारा रचा गया है; फिर भी उसमें नरक, स्वर्ग, त्रैलोक्य, कर्मप्रकृति, गुणस्थानादिका विशेष वर्णन किये बना कविसे न रहा गया और इसलिए वह भी एक प्रकारसे तात्त्विक ग्रन्थ बन गया है । उसमें कथाभाग बहुत कम है । इस तरह साधारणोपयोगी प्रभावशाली चरितग्रन्थोंका जैनसाहित्यमें प्रायः अभाव है और जैनसमाज तुलसीकृत रामायण जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थोंके आनन्दसे वंचित है । शीलकथा; दर्शनकथा, और सुशालचन्दजीके पद्मपुराण आदिकी रद्दी निःसत्व कविताको पढ़ते पढ़ते जैनसमाज यह भूल ही गया है कि अच्छी कविता कैसी होती है ।

१० गद्यलेखकोंमें तथा टीकाकारोंमें टोडरमल्ल सर्वश्रेष्ठ हैं । जयचन्द, हेमराज, आत्माराम, नेणसी मूता अच्छे लेखक हुए हैं । सदासुख, भागचन्द, दौलतराम, जगजीवन, देवीदास आदि मध्यम श्रेणीके लेखक हैं । बाकी सब साधारण हैं । गद्यमें श्वेताम्बरोंका साहित्य प्रायः है ही नहीं, मुनि आत्मारामजिके अवश्य ही कुछ ग्रन्थ हैं जो गणनीय हैं । शेष श्वेताम्बरी साहि-

त्य पद्यमें है । श्वेताम्बरी साहित्य जितना उपलब्ध है, उसमें तात्त्विक चर्चा बहुत ही कम है, केवल कथाग्रन्थ हैं ।

११ आधुनिक समयके जैनलेखकोंने सर्वोपयोगी और सार्वजनिक पुस्तकोंका लिखना भी शुरू कर दिया है । उन्होंने अपने प्राचीन क्षेत्रसे—केवल धार्मिक साहित्यसे—बाहर भी कदम बढ़ाया है । अभी ५-७ वर्षोंसे इस विषयमें खासी उन्नति हुई है । उच्चश्रेणीकी अँगरेजी शिक्षा पाये हुए युवकोंका ध्यान इस ओर विशेष आकर्षित हुआ है । ऐसे सज्जनोंका परिचय इस निबन्धके अन्तमें दिया गया है । आशा है कि थोड़े ही समयमें जैनसमाजमें हिन्दी लेखकोंकी एक काफी संख्या हो जायगी और उनके द्वारा हिन्दीकी अच्छी सेवा होगी ।

६ सामयिक साहित्य ।

जैनसमाजके कई हिन्दी पत्र भी निकलते हैं । इनकी संख्या खासी है । अधिकांश हिन्दी पत्र दिगम्बर सम्प्रदायके हैं । साप्ताहिकोंमें जैनगजट और जैनमित्र हैं । जैनमित्रकी दशा अच्छी है, पर जैनगजट तो पत्रोंका कलङ्क है । मासिकोंमें जैनहितैषी, जातिप्रबोधक, जैनप्रभात, दिगम्बर जैन, और सत्यवादी हैं । इनमेंसे पिछला पुराने विचारवालोंका मुख-पत्र है । 'दिगम्बर जैन' केवल यहाँ वहाँके समाचारों और लेखोंको आँख बन्द करके संग्रह कर देनेवाला है । उसके कोई खास खयाल नहीं हैं । उसमें आधी गुजराती भी रहती है । 'जाति-प्रबोधक' केवल सामाजिक सुधारका काम करता है । इसके सम्पादक एक ब्रेज्युएट हैं । 'जैनप्रभात' एक सेठोंकी सभाका पत्र है, इस लिए उसे बहुत कुछ दबकर लिखना पड़ता है । 'स्थानकवासी कान्फरेस प्रकाश' स्थानक-वासी सम्प्रदायका साप्ताहिक पत्र है । यह गुज-

राती और हिन्दी दो भाषाओंमें निकलता है । श्वेताम्बर सम्प्रदायके साप्ताहिक 'जैनशासन' में भी हिन्दीके कुछ लेख रहते हैं । 'जैनसंसार' और 'जैन मुनि' क्रमसे श्वेताम्बर और स्थानक-वासी सम्प्रदायके नवजात पत्र हैं ।

इनके पहले हिन्दीके और भी कई पत्र निकलकर बन्द हो चुके हैं । जहाँतक हम जानते हैं, सबसे पहला हिन्दी जैनपत्र 'जैनप्रभाकर' था, जो अजमेरसे निकलता था । यह कई वर्ष तक चलता रहा । यह कोई २०-२२ वर्ष पहलेकी बात है । लाहौरकी 'जैनपत्रिका' ८-१० वर्ष तक चलकर बन्द हो गई । जैनतत्त्वप्रकाशक, जैनपताका, जैननारीहितकारी, जैनसिद्धान्तभास्कर कोई दो दो वर्ष चलकर बन्द हो गये । इनमें 'सिद्धान्तभास्कर' उल्लेख योग्य पत्र था । आत्मानन्द जैनपत्रिका श्वेताम्बर-सम्प्रदायकी मासिक पत्रिका थी । यह ५-७ वर्ष चलकर बन्द हो गई । 'जैनरत्नमाला' और 'जैनी' एक एक वर्ष तक ही जीवित रहे । 'स्याद्वादी' और 'चित्तविनोद' का एक ही एक अंक निकला । जयपुरसे 'जैनप्रदीप' नामका पत्र भी कुछ महीनोंतक निकलता रहा था ।

एक दो सार्वजनिक पत्र भी जैनोंके द्वारा प्रकाशित होते हैं । देहलीके साप्ताहिक 'हिन्दी समाचार' के स्वामी सेठ माठूमलजी और देहरादूनके 'भारतहितैषी' के सम्पादक और प्रकाशक लाला गुलशनरायजी जैनी हैं । हिन्दीके सुप्रसिद्ध अस्तंगत 'समालोचक' पत्रके स्वामी मि० जैनवैद्य भी जैनी थे ।

७ जैनोंद्वारा हिन्दीकी उन्नतिकी चेष्टा ।

आपको मालूम होगा कि बम्बईके हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर कार्यालयके संचालक जैनी हैं ।

बम्बईकी नवजात ' हिन्दीगौरवग्रन्थमाला ' के स्वामी भी जैनी हैं । झालरापाटणकी हिन्दी साहित्य समितिका जो ११-१२ हजार रुपयोंका स्थायी फण्ड है, वह केवल जैनोंका दिया हुआ है । इसके द्वारा हिन्दीके उत्तमोत्तम ग्रन्थ लागतके मूल्यसे बेचे जायेंगे । इन्दौरकी मध्यभारत हिन्दी साहित्यसमितिको भी जैनोंकी ओरसे कई हजार रुपयोंकी सहायता मिली है । खण्डवेकी हिन्दीग्रन्थप्रसारकमंडलीके संचालक बाबू माणिकचन्द्रजी वकील भी जैनी हैं । हमको आशा है कि भविष्यमें हिन्दीसाहित्यकी उन्नतिमें जैनसमाजका और भी अधिक हाथ रहेगा ।

८ जैनग्रन्थप्रकाशक संस्थायें ।

जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, जैनसाहित्य-प्रचारक कार्यालय, और रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला, बम्बईकी ये तीन संस्थायें हिन्दीके जैनग्रन्थ प्रकाशित करनेवाली हैं । इनमेंसे से तीसरीके स्वामी श्वेताम्बर हैं, शेष दोके दिगम्बर । लाहौरके बाबू ज्ञानचन्द्रजीने हिन्दीके बहुत ग्रन्थ छपाये हैं, पर इस समय उनका काम बन्द है । देवबन्दके बाबू सूरजभानजी वकीलने भी ग्रन्थ-प्रकाशनका कार्य बन्द कर दिया है । कलकत्तेकी सनातनजैनग्रन्थमाला अब हिन्दीके ग्रन्थ भी प्रकाशित करने लगी है । सूरतके दिगम्बर-जैनकार्यालयसे, कोल्हापुरके जैनेन्द्रप्रेससे और बम्बईके जैनमित्र कार्यालयसे भी अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं । इसके सिवाय और भी कई सज्जन थोड़े बहुत हिन्दी ग्रन्थ छपाया करते हैं । श्वेताम्बरसम्प्रदायकी ओरसे हिन्दीग्रन्थप्रकाशक संस्थाओंके स्थापित होनेकी बहुत आवश्यकता है ।

९ हिन्दीका इतिहास ।

जैनसाहित्यका इतिहास बतलानेके पहले हमें हिन्दीसाहित्यका इतिहास देख जाना

चाहिए । शिवसिंहसरोजके कर्ता और मिश्रबन्धु-ओंके विचारानुसार हिन्दीकी उत्पत्ति संवत् ७०० से मानी जाती है । सं० ७७० में किसी पुष्य नामक कविने भाषाके दोहोंमें एक अलंकारका ग्रन्थ लिखा था । सं० ८९० के लगभग किसी भाट कविने 'खुमान रासा' नामक भाषा ग्रन्थ लिखा । ये दोनों ही ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं । इनके बाद चन्द्र कविने वि०सं० १२२५ से १२४९ तक 'पृथ्वीराज रासा' बनाया । उसके बादके जगनिक केदार और बारदर वेणा नामक कवि हुए, पर इनकी रचनाका पता नहीं । चन्द्रका बेटा जल्हण हुआ उसने पृथ्वीराज रासाका शेष भाग लिखा । उसके बाद 'कुमारपालचरित' नामका ग्रन्थ सं० १३०० के लगभग बना । कुमारपाल अणहिलवाड़ेके राजा थे । इनके बाद १३५४ में भूपतिने 'भागवतका दशम स्कन्ध' बनाया । १३५४ में नरपति नाहने 'वीसलदेवरासा,' १३५५ में नल्लसिंहने 'विजयपालरासा,' और १३५७ में शारंगधरने 'हम्मीररासा' बनाया । १३८२ में अमीर खुसरोका देहान्त हुआ, जो उर्दू फारसीके सिवा हिन्दीके भी कवि थे । इनके बाद १४०७ से गोरखनाथका कविताकाल शुरू होता है ।

हमारी समझमें इस इतिहासमें बहुतसी बातें विना किसी प्रमाणके, भ्रमवश लिखी गई हैं । असलमें सबसे पहला ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासा' गिना जाना चाहिए । इसके पहलेके ग्रन्थ केवल अनुमानसे या भ्रमसे समझ लिये गये हैं कि हिन्दीके हैं । पर वास्तवमें यदि वे होंगे तो प्राकृत या अपभ्रंश भाषाके होंगे । आज कल जिस प्रकार भाषा कहनेसे हिन्दीका बोध होता है उसी प्रकार एक समय 'भाषा' कहनेसे 'प्राकृत'का भी बोध होता था । पुष्य कविका 'दोहाबद्ध अलंकार' और 'खुमानरासा' ये दोनों ही ग्रन्थ प्राकृतके होने चाहिए । चन्द्रके बादका 'कुमारपालचरित'

भी भ्रमसे हिन्दीका समझ लिया गया है। इसका दूसरा नाम 'प्राकृत व्याश्रय महाकाव्य' है। यह जैनाचार्य हेमचन्द्र द्वारा बनाया गया है और १३ वीं शताब्दीमें ही—कुमारपालके समयमें ही—इसकी रचना हुई है। इसे बम्बईकी गवर्नमेंटने छपाकर प्रकाशित भी कर दिया है। इसमें प्राकृत, सौरसेनी, पेशाची और अपभ्रंश भाषाओंका संग्रह है और इन सबको 'भाषा' कहते हैं। जान पड़ता है, इसी कारण यह हिन्दीका ग्रन्थ समझ लिया गया है। इसके सिवाय इसका अपभ्रंश भाग (श्रीमान् मुनि जिनाविजयजीके कथनानुसार) पुराने टंगकी हिन्दीसे १०-१२ आने भर मिलता है। इस कारण भी इसके हिन्दी समझ लिये जानेकी संभावना है। इसके बादके भूपति कविकी भाषासे यह बोध नहीं होता कि वह संवत् १३५४ के लगभगका कवि है। उसकी भाषा सोलहवीं सदीसे पहलेकी नहीं मालूम होती। नालह आदिकी रचनाके विषयमें भी हमें सन्देह है। मिश्रबन्धुओंने इसके सम्बन्धमें कोई भी सन्तोषयोग्य प्रमाण नहीं दिये हैं। अतः चन्द्रको छोड़कर सबसे पहले निश्चित कवि महात्मा गोरखनाथ हैं जिनको समय खोजके लेखकोंमें सं० १४०७ निश्चित किया है (यद्यपि हमें इस समयमें भी सन्देह है)। अर्थात् पृथ्वीराज रासोको छोड़कर हिन्दीके उपलब्ध साहित्यका प्रारंभ विक्रमकी १५ वीं शताब्दीसे होता है।

१० हिन्दीका प्रारंभ ।

हमारे विचारसे हिन्दीका प्रारंभ तेरहवीं शताब्दीके मध्यभागसे होता है। जो समय भारतके राष्ट्रीयभावोंमें बड़ा भारी परिवर्तन करता है वही उसकी भाषाओंमें भी सविशेष परिवर्तन करता है। दिल्लीश्वर पृथ्वीराज चौहानके पतनके बाद भारतके स्वातंत्र्यका जिस तरह एकदम स्वरूप

बदलने लगता है वैसे ही भारतीय भाषाओंका भी रूप परिवर्तित होने लगता है। इसके पहले उत्तर और पश्चिमभारतमें वह अपभ्रंश भाषा कुछ थोड़ेसे हेर-फेरके साथ, बोली जाती थी, जिसका व्याकरण हेमचंद्रसूरिने अपने 'सिद्धहेम-शब्दानुशासन' नामक महान् व्याकरणके अष्टमाध्यायके चतुर्थपादके ३२९ वें सूत्रसे लेकर अंतिम सूत्र ४४८ वें तक (१२० सूत्रोंमें) लिखा है। हेमचंद्रसूरि अपने समयके सबसे बड़े वैयाकरण थे। उन्होंने अपने व्याकरणके पहले ७ अध्यायोंमें संस्कृतका सर्वांगपूर्ण व्याकरण लिख कर आठवें अध्यायमें प्राकृत वगैरह व्यावहारिक भाषाओंका व्याकरण बनाया। अंतमें अपनी मातृभाषा—प्रचलित देशभाषा—कि जिसका नाम उन्होंने 'अपभ्रंश' रक्खा है, उसका व्याकरण भी लिख डाला। यह काम सबसे पहले उन्होंने ही किया। उन्होंने अपभ्रंशका केवल व्याकरण ही नहीं लिखा; परंतु कोश और छन्दो-नियम भी बना दिये। व्याकरण कोश और छन्दोंके उदाहरणोंमें सैकड़ों पद्य आपने उन ग्रन्थोंके दिये हैं जो उस समय, देशभाषाके सर्वाच्च और प्रतिष्ठित ग्रन्थ गिने जाते थे।

हेमचंद्रसूरिने अपनी जन्मभाषाका गुजराती हिन्दी और मराठी आदि कोई खास नाम न रक्कर 'अपभ्रंश' ऐसा सामान्य नाम रक्खा है जिसका कारण यह है कि वह भाषा उस समय, उसी रूपमें बिलकुल थोड़ेसे भेदके साथ भारतके बहुतसे प्रदेशोंमें बोली जाती थी। इस लिए आचार्य हेमचंद्रने उसे खास किसी प्रदेशकी भाषा न मान कर सामान्य अपभ्रंश भाषा मानी। अच्छा तो अब यह बात उपस्थित होगी कि यह अपभ्रंश (विकृतरूप) किस भाषाका था। इस प्रश्नका उत्तर हमें केवल जैनसाहित्यसे मिलेगा और

किसीसे नहीं। इसके लिए हमें उन प्राकृत ग्रंथोंको देखना चाहिए जो हेमचंद्राचार्यके पहले क्रमसे ३-४ शताब्दियोंमें, लिखे गये हैं। यद्यपि उन सबका अवलोकन अभी तक ठीक ठीक नहीं किया गया है तो भी जितना किया गया है उससे इतना तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह अपभ्रंश, शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतका था। दशवीं शताब्दीके पहलेके जितने जैन प्राकृतग्रंथ हैं उनमें इन्हीं दोनों भाषाओंकी प्रधानता है। दशवीं शताब्दीके बादके जो ग्रंथ हैं, उनमें ये भाषायें क्रमसे लुप्त होती जाती हैं और अपभ्रंशका उदय दृष्टिगोचर होता है। महाकवि धनपाल, महेश्वरसूरि और जिनेश्वरसूरि आदिके ग्रंथोंमें अपभ्रंशका आदि आकार तथा रत्नप्रभाचार्यकी उपदेशमाला की 'दोषट्टी वृत्ति' और हेमचंद्रसूरिके ग्रंथोंमें उसकी उत्तरावस्था प्रतीत होती है। ऊपर लिखा जा चुका है कि दशवीं शताब्दीके पहलेके ग्रंथोंमें शुद्ध शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत है और बादमें उनका विकृतरूप है। कालकी गतिके साथ होनेवाले उन भाषाओंके स्वरूपके भ्रंशहीको हेमचंद्रसूरिने अपभ्रंश नाम दिया और शौरसेनी तथा प्राकृतके बाद ही अपने व्याकरणमें उसका भी व्याकरण लिपिबद्ध कर दिया।

हेमचंद्रसूरिके देहान्तके बाद थोड़े ही वर्षोंमें भारतमें राज्यक्रांति हुई और राष्ट्रीय परिस्थितिमें घोर परिवर्तन होने लगा। हममें परस्पर ईर्ष्याग्नि सुलगने लगी और विदेशी विजेता उसका लाभ उठाने लगे। देशोंका पारस्परिक स्नेह-संबंध टूटा और एक राज्यके रहनेवाले दूसरे राज्यके रहनेवालोंको शत्रु मानने लगे। इसी कारण, गुजरात, राजपूताना, अवन्ती और मध्यप्रान्तके निवासियोंका इसके पहले जितना व्यावहारिक सम्बन्ध विस्तृत था उसमें संकुचितता आई। इस संकु-

चितताने इन प्रदेशोंकी जो व्यापक भाषा अपभ्रंश थी उसके भावी विकाशको प्रान्तीय-भाषाओंके भिन्न भिन्न भेदोंमें विभक्त कर दिया। यहींसे, गुजराती, राजपूतानी, मालवी, और हिन्दी भाषाओंके गर्भका सूत्रपात हुआ और धीरे धीरे १५ वीं शताब्दीमें पहुँचकर इन भाषाओंने अपना स्वरूप स्पष्टतया प्रकट कर दिया।

ऐसी दशामें हेमचंद्राचार्यके अपभ्रंशको ही इन उपर्युक्त भाषाओंका मूल समझना चाहिए। इसकी पुष्टिमें अपभ्रंशके कुछ पद्य यहाँ पर उद्धृत कर देने आवश्यक हैं जो हेमचंद्रसूरिने अपने व्याकरणमें उदाहरणार्थ, उस समयके प्रचलित लोक ग्रंथोंमेंसे—रासाओंमेंसे—उद्धृत किये हैं।

ढोला मइं तुहुं वारिथं
मा कुरु दीहां माणु ।
निहए गमिही रत्तंडी
दुडं वड होइ विहांणु ॥
बिहृए मइ भणिय तुहुं
मा कुरु वंकी दिट्टि ।
पुंत्ति सकण्णी भल्लि जिवं
मारइ हिअइं पइट्टि ॥
भल्लों हुआ जु मारिआ
बहिणि महारा कन्तु ।
लज्जेजंतु वयंसिअहु
जइ भग्गा घरु एन्तु ॥

१ रात्रिके प्रारंभमें स्त्रीपुरुषके प्रणयकलहकी समाप्तिपर किसी नवयौवनाकी अपने पतिके प्रति यह उक्ति जान पड़ती है। 'ढोला' शब्द नायकके सम्बोधनमें है। २ वारितः—रोका। ३ दीर्घ। ४ निद्रायो—नींदमें। ५ रात। ६ जरदी। ७ प्रभात। ८ रोषातुर पुत्रीके प्रति स्नेही पिताकी उक्ति। ९ विहृए—हे बेटी। १० वक्रदृष्टि। ११ पुत्री। १२ हृदयमें पैठकर। १३ भावार्थ—हे बहिन भला हुआ जो मेरा पति मर गया। यदि भागा हुआ घर आता तो मैं रक्षियोंमें लज्जित होती। १३ वयस्यानां मध्ये।

इन पद्योंके साथ 'पृथ्वीराजरासो' या उसी समयके लिखे गये किसी और ग्रंथके पद्योंका यदि मिलान किया जाय तो भाषाविषयक बहुत कुछ सादृश्य ही नहीं बिलकुल एकता दिखाई देगी । ऐसी दशामें 'पृथ्वीराजरासो' यदि हिन्दीहीका ग्रंथ गिना जाने योग्य है, तो उसके आसपासके बनेहुए जैनग्रंथ भी जिनका उल्लेख आगे किया गया है हिन्दीके ग्रंथ गिने जाने योग्य हैं ।

इस उल्लेखसे, हमने जो हिन्दीका प्रारंभ १३ वीं शताब्दीके मध्यसे माना है वह भी युक्तिसंगत मालूम देगा और साथमें, जिस तरह अजैनोंके रचे हुए हिन्दी ग्रंथ, उसके प्रारंभकालके मिलते हैं वैसे जैनोंके भी मिलनेके कारण हिन्दीका इतिहास लिखनेमें उनकी उपयोगिता कितनी अधिक है यह भी भली भाँति ज्ञात हो जायगा ।

हमने अगले पृष्ठों पर १३ वीं, १४ वीं और १५ वीं शताब्दीके जिन जैनग्रंथोंको हिन्दीके या उससे बहुत मिलती जुलती हुई भाषाका माना है, उनके अवलोकनसे हिन्दीके विकासकी बहुत कुछ नई नई बातें और नये नये रूप मालूम होंगे, जो हमारी भाषाके शरीरसङ्गठनका इतिहास लिखनेमें अति आवश्यक साधन हैं । अजैन साहित्यमें, जब चंदके बाद गोरखहीका ग्रंथ हमें दृष्टिगोचर होता है—मध्यका कोई नहीं तब, जैनसाहित्यमें इस बीचके पचासों ग्रंथ खोज करने पर मिल सकते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि हिन्दीका संपूर्ण इतिहास तैयार करनेमें जैनसाहित्यसे महत्त्वकी सामग्री मिल सकती है ।

तेरहवीं शताब्दी ।

१ जम्बूस्वामी रासा । बड़ोदा महाराजकी सेंट्रल लायब्रेरीकी ओरसे निकलनेवाले 'लाइब्रेरी मिसैलेनी' नामके त्रैमासिक पत्रकी अप्रैल १९१५ की संख्यामें श्रियुत चिम्मनलाल डाह्याभाई-दलाल एम. ए. का एक महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है । उसमें उन्होंने पाटणके सुप्रसिद्ध जैनपुस्तकालयोंकी खोज करनेसे प्राप्त हुए अलभ्य संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश और प्राचीन गुजरातीके ग्रंथोंका विवरण दिया है । उसमें 'जम्बूस्वामी

रासा' नामका एक ग्रन्थ है । यह महेन्द्रसूरिके शिष्य धर्मसूरिने सं० १२६६ में बनाया है । लेखक इसकी भाषाको प्राचीन गुजराती बतलाते हैं और इसे उपलब्ध गुजराती साहित्यमें सबसे पहला ग्रन्थ मानते हैं; परन्तु हमारी समझमें चन्दकी भाषा आजकलके हिन्दी जाननेवालोंके लिए जितनी दुरूह है, यह उससे अधिक दुरूह नहीं है और गुजरातीके साथ इसका जितना सादृश्य है उससे कहीं अधिक हिन्दीसे है । उक्त विवरण परसे हम यहाँ उसके प्रारंभके दो पद्य उद्धृत करते हैं:—

जिण चउ-विस पर्य नमेवि
गुरु चरण नमेवि ॥
जंबू स्वामिहिं तणूं
चरियं भविउं निं सुणेवि ॥
करि सानिध सरसत्ति
देवि जीयरयं (?) कहाणउ ।
जंबू स्वामिहिं (सु) गुणगहण
संखविं वखाणउ ॥
जंबुदीवि सिरि भरहखित्ति
तिहिं नयँर पहाँणउ ॥
राजग्रह नामेण नयर
पहुँवी देवखाणउ ॥
राज करइ सेणियं नरिंद
नरवरहं जु सारो ।
तासु तैणइ (अति) बुद्धिवंत
मति अभयकुमारो * ॥ २ ॥

२ रेवंतगिरि रासा । पाटणके संघवीपाडाके भण्डारमें 'रेवंतगिरि रासा' नामका एक ग्रन्थ और भी विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीका बना हुआ है । वस्तुपालमन्त्रीके गुरु विजयसेनसूरिने संवत् १२८८ के लगभग—जब कि वस्तुपालने गिरनारका संघ निकाला था—इसे बनाया है । इसमें गिरनारका और वहाँके जैनमन्दिरोंके जीर्णोद्धारका वर्णन

१ पद—चरण । २ चरित्र । ३ भविक—भव्य ।
४ सुनो । ५ संक्षिप्त । ६ नगर । ७ प्रधान । ८
पृथिवीमें । ९ विख्यात । १० श्रेणिकराजा । ११
तनय पुत्र । * जिस प्रतिसे ये पद्य लिये गये हैं, वह
शुद्ध नहीं है, इसलिए इनमें छन्दोभंग जान पड़ता है ।

है। इसकी भाषाको भी दलाल महाशय प्राचीन गुजराती बतलाते हैं। प्रारंभके कुछ दोहे देखिए।

परमेसर तित्थेसरह
पयंपंकज पणमेवि ।
भणिसु रासु रेवंतगिरि-
अंबिकदिवि सुमरोवि ॥ १ ॥

गामागर-पुर-वण-गहण
सरि-सरवरि-सुपएसु ।
देवभूमि दिसि पच्छिमह
मणंहरु सोरठ देसु ॥ २ ॥

जिणु तहिं मंडल-मंडणउ
मरगय-मउड-महंतु ।

निम्मल-सामंल-सिहंर भर,
रेहंइ गिरि रेवंतु ॥ ३ ॥

तसु सिरि सामिउं सामंलउ
सोहंण सुंदर सारु ।

...इव निम्मल-कुल-तिलेंउ
निवसइ नेमिकुमारु ॥ ४ ॥

तसु सुहदंसेणु दस दिसवि
देस दिसंतरु संघ ।

आवइ भाव रसालमण
उहलि (?) रंग तरंग ॥ ५ ॥
पोरवाडकुलमंडणउ

नंदणु आसाराय ।
वस्तुपाल वर मंतिं ताहि
तेजपालु इइ भाइ ॥ ६ ॥

गुर्जर (वर) धर धुरि धवल
वीर धवल देवराजि ।

बिउं बंधवि अवयारियउ
समंऊ दूसेंम माझि ॥ ७ ॥

हमारी समझमें यह प्राचीन हिन्दी कही जा सकती है।

१ तीर्थेश्वरके। २ पदपंकज। ३ प्रणम्य-प्रणाम करके। ४ गिरिनारपर्वतकी अम्बिका देवी। ५ स्मृत्वा-स्मरण करके। ६ सुप्रदेश। ७ मनोहर। ८ मरकत माणिके मुकुटसे शोभित। ९ श्यामल। १० शिखर। ११ राजे। १२ स्वामी। १३ श्यामल। १४ शोभक-शोभायुक्त। १५ तिलक। १६ मुखदर्शन। १७ मंत्री। १८ दोनों। १९ बन्धु। २० अवतरित किया। २१ सुसमय। २२ दुःषमकालमें।

३ नेमिनाथ चउपई। पाठणके भण्डारोंमें एक 'नेमिनाथ चतुष्पादिका' नामका ४० पद्योंका ग्रन्थ है। इसके कर्ता रत्नसिंहके शिष्य विनय-चन्द्र सूरि हैं। इनका समय विक्रमकी १३ वीं शताब्दीका अन्तिम भाग है। मल्लिनाथ महाकाव्य, पार्श्वनाथचरित, कल्पनिरुक्त आदि अनेक संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थ इनके बनाये हुए उपलब्ध हैं। इस चउपईकी मूल प्रति भी सं० १३५५-५८ की लिखी हुई है। अतः यह तेरहवीं शताब्दीके अंतकी रचना है। इसके प्रारंभकी पाँच चौपाइयाँ इस प्रकार हैं:—

सोहंण सुंदरु घण लांयन्नु,
सुमरवि सामिउ सामंलवन्नु ।
सखि पति राजल चडि उत्तरिय,
वार मास सुणि जिम वज्जरिय ॥ १ ॥
नेमि कुमर सुमरवि गिरनारि,
सिद्धी राजल कन्न कुमारि ।
श्रावणि सरवाणि कडुए मेहु,
गज्जइ विराहि रिञ्जिज्जहु देहु ॥
विज्जुं झवक्कइ रक्खींस जेव,
नेमिहि विणु संहि सहियइ केव ॥ २ ॥
सखी भणइ सामिणि मन झूरि,
दुज्जण तणा मनवंछित पूरि ।
गयेउ नेमि तउ विनठउ काइ,
अछइ अनेरा वरह सथाइ ॥ ३ ॥
बोलइ राजल तउ इह वयणु,
नत्थि नेमि वर सन वर-रंयणु ॥
धरइ तेजु गहगण सवि ताउं,
गर्याणि न उगइ दिणंयुर जावं ॥ ४ ॥
भाद्रंवि भरिया सर पिकखेवि,
सकरुण रोवइ राजल देवि ।
हा एकलंडी मइ निरधार,
किम उवेषिसि करुणासार ॥ ५ ॥

१ सुभग। २ लावण्य। ३ श्यामल वर्ण। ४ भेष। ५ विजली। ६ राक्षसीके समान। ७ सखि। ८ हे स्वामिनि। ९ यदि नेमि चला गया तो क्या विनष्ट (बिगड़) गया, और बहुतसे वर हैं। यह इस चरणका अभिप्राय है। १० वररत्न। ११ ग्रहगण-नक्षत्र। १२ तब तक। १३ गगन या आकाशमें। १४ दिनकर-सूर्य। १५ यावत् जब तक। १६ भादोंमें। १७ अकेली।

४ उवएसमाला कहाणय छप्पय । यह भी उपर्युक्त विनयचन्द्रसूरिहीकी रचना है । धर्मदासगणिकी बनाई हुई प्राकृत उपदेशमालाके अनुवाद रूपमें ये छप्पय बनाये गये हैं । इसमें सब मिलाकर ८१ छप्पय हैं । छप्पय छन्दोंकी तरफ विचार किया जाय तो वे प्रायः हिन्दीके ग्रंथोंहीमें अधिक देखे जाते हैं-गुजरातीमें बहुत कम । चंद्रका 'पृथ्वीराजरासो' प्रायः इन्हीं छप्पय छन्दोंमें बना हुआ है । अतः इस ग्रंथको हिन्दी-ग्रंथ कहनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं है । भाषा भी चंद्रके रासोसे बिल्कुल मिलती जुलती है । इसके आदि-अंत छप्पय इस प्रकार हैं:-

विजयनरिंद जिणिंद-
वीरहत्थिहिं-वय-लेविणु ।
धम्मदास गणि नामि
गामि नयरिहिं विहरइ पुणु ।
नियपुत्तह रणसीहराय-
पडिबोहण सारिहिं ।
करइ एस उवएसमाल
जिणवयणवियारिहिं ।
सय पंच च्याल गाहा रमण-
मणिकरंड महियलि मुणउ ।
सुहभावि सुद्ध सिद्धंत सम,
सवि साहू सावय सुणउ ॥ १ ॥

अंत:-

इणि परि सिरि उवएस-
माल (सुरसाल) कहाणय ।
तंव-संजम-संतास-
विणयविज्जाइ पहाणय ।
सार्वय संभरणत्थ
अत्थंपय छप्पय छुदिहं ।

१ जिनेन्द्रवीरके हाथसे जिन्होंने व्रत (दीक्षाव्रत) लिया था, वे धर्मदास गणि । २ निजपुत्र रणसिंहरा-जके प्रतिबोधनार्थ । ३ उपदेशमाला । ४ गाथाकल्प रत्नोंका मणिकरण्ड या पिठारा । ५ श्रावक । ६ उप-देशमाला-कथानक । ७ तप संयम-संतोष-विनय-वि-द्यामें प्रधान । ८ श्रावकप्रणयार्थ । ९ अर्थपद ।

रयणसिंह सूरीस-सीस
पभणइ आणदिहिं ।
अरिहंत आण अणुदिण उदय,
धम्ममूल मत्थइ हउं ।
भो भविय भत्तिसत्तिहिं सहल
सयल-लच्छलीला लहउ ॥ १ ॥
चौदहवीं शताब्दी ।

१ सप्तक्षेत्रास । कर्ताका नाम अभी तक स्पष्ट ज्ञात नहीं हुआ; पर रचना-काल संवत् १३२७ है । इसमें जिनमंदिर, जिनप्रतिमा, ज्ञान, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकारूप (श्वेताम्बर संप्रदायमें माने हुए) सात पुण्यक्षेत्रोंकी उपासनाका वर्णन है । यद्यपि इसमें कितने ही शब्द-प्रयोग गुजरातीकी ओर झुकते हुए दिखाई देते हैं पर हिन्दीके साथ सादृश्य रखनेवाले शब्दोंकी प्रधानता अवश्य है । नमूनेके लिए कुछ अंतके पद्य देखिए:-

सातें क्षेत्र इम बोलिया
पुण एकु कहीसिइ ।
कर जोडी श्रीसंघपासि
अविणउ मागीसइ ।
काईउ ऊण आगउं
बोलिउ उत्सूत्रु ।
ते बोलया मिच्छाडुकुय
श्रीसंघवदीतुं ॥ ११६ ॥
सूँ मूरष (ख) तोइए
कुण मात्र पुण सुगुरुपसाओ ।

१ प्रभणति-कहते हैं । २ आज्ञा । ३ भक्तिश-क्तिसे । ४ सकललक्ष्मीर्वाला अर्थात् केवलज्ञान । ५ सात क्षेत्र इस प्रकार कह कर मैं फिर एक बात कहूंगा-हाथ जोड़कर श्रांसंघके पास अविनय माँगूगा अर्थात् क्षमा माँगूगा कि यदि कुछ 'ऊण' न्यून 'आगउं' अधिक या 'उत्सूत्र' शास्त्रविरुद्ध कहा गया है तो श्रीसंघमें प्रसिद्ध 'मिथ्या दुष्कृत' हो । ६ मैं मुखे हूँ इस लिए मैं कौन मात्र हूँ-क्या चीज हूँ; परन्तु सुगुरुके प्रादसे और त्रिभुवनस्वामी जगन्नाथहृदयमें बसते हैं इससे यह 'रास' बना सका हूँ ।

अनइ ज त्रिभुवनसामि
वसइ हियडइ जगनाहो ।
तीणि प्रमाणइ सातश्रेत्र
इम कीधउ रासो ।
श्रीसंघु डुरियह अपहरउ
सामी जिणपासो ॥ ११७ ॥
संवत तेर सत्तावीसए
माह मसवाडइ ।
गुरुवारि आवीय दसामि
पहिलइ पखवाडइ ।
तहि प्ररु हुउ रासु
सिवसुखनिहाणू ।
जिण चउवीसइ भवियणइ
कारिसिइ कल्याणू ॥ ११८ ॥

२ संघपतिसमरा-रास । अणहिल्लपुर पट्टनके ओसवाल शाह समरा संघपतिने सं० १३७१ में शत्रुंजय तीर्थका उद्धार अगणित धन व्यय करके किया था । इस उद्धारको लक्ष्य करके नागेन्द्र गच्छके आचार्य पासड सूरिके शिष्य अंबदेवने यह रासा बनाया है । इसमें गुजराती प्रयोगोंके स्थानमें राजस्थानी भाषाके शब्द अधिक दिखाई देते हैं इससे, इसके कर्ताका वासस्थान संभवतः राजपूतानाका कोई प्रदेश होना चाहिए । राजस्थानी भाषाओंका जितना सादृश्य गुजरातीके साथ है उससे कई गुना अधिक हिन्दीसे है और यह आज भी प्रत्यक्ष है ।

पट्टनसे संघ निकाल कर समरा शाहने जब शत्रुंजयकी तरफ प्रयाण किया उस समयका कवि वर्णन करता है:-

वाजिय संख असंख नादि
काहल डुडुडुडिया ।
घोडे चडइ सलारसार
राउत सींगडिया ।
तउ देवालउ जोत्रि वेगि
घाघरि रवु झमकइ ।
सम विसम नवि गणइ
कोई नवि वारिउ थकइ ॥ १ ॥

१ सं० १३२७ मसवाड (मार्गसिर ?), पहले अक्षकी दशमी, गुरुवार ।

सिजवाला धर धडहडइ
वाहिणि बहुवेगि ।
धरणि धडकइ रजु उडए
नवि सूझइ मागो ।
हय हीसह आरसइ करह
वेगि वहइ बहल्ल ।
सादकिया थाहरइ
अवरु नवि देई बुल्ल ॥ २ ॥
निसि दीवी झलहलहि
जेम ऊगिउ तारायणु ।
पावल पारु न पामियए
वेगि वहइ सुखासणु ।
आगेवाणिह संचरए
संघपति साहु वेसलु ।
बुद्धिवंतु बहु पुंनिवंतु
परिकमिहि सुनिश्चलु ॥ ३ ॥

इन पद्योंकी रचना तो सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दीके राजपूतानाके चारणाय रासोंसे भी विशेष सरल और सहजमें समझमें आजाने-वाली है ।

२ थूलिभद्र फागु । इस नामकी एक छोटीसी पुस्तक खरतर गच्छके आचार्य जिनपञ्चसूरिने विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीके अन्तमें, चैत्र महीनेमें फागु खेलनेके लिए बनाई है । उसका प्रारंभ इस प्रकार है:-

पणमिय पासं जिणंदय,
अनु सरसइ समरोवि ।
थूलभद्रमुणिवइ भणिसु,
फागु बंध गुणकेवि ॥ १ ॥
अह सोहग सुंदर रुवंतु
गुणमणिभंडारो । कंचण
जिम झलकंत कंति संजम
सिरि हारो ॥ थूलिभद्र
मुणिराउ जाम महियली
बाहतउ । नयरंराय पाडलिय
माहि पट्टतउ विहरंतउ ॥

‘कच्छलिरासा’ आदि और भी कई कृतियाँ इस शताब्दीकी मिलती हैं ।

१ सरस्वति । २ थूलभद्र मुनिपाते । ३ नगरराज-श्रेष्ठ नगर । ५ पाटलीपुत्रमें ।

३ संस्कृतमें जैनाचार्य मेरुतुङ्गकृत प्रबन्ध चिन्तामणि नामका एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है, जो शास्त्री रामचन्द्र दीनानाथ द्वारा छपकर प्रकाशित हो गया है। यह विक्रम संवत् १३६१ में बनकर समाप्त हुआ है। इसके कई प्रबन्धोंमें यत्र तत्र कुछ दोहे दिये हुए हैं जो अपभ्रंश भाषाके हैं और हिन्दी जैसे जान पड़ते हैं। ग्रंथकर्ताके समयमें वे जनश्रुतियोंमें या प्रचलित देशभाषाके किसी जैनग्रन्थमें प्रसिद्ध होंगे, इस कारण उन्हें चौदहवीं शताब्दीके या उससे पहलेके कह सकते हैं।

जा मति पाछइ संपजइ,
सा मति पहिली होइ ।
मुंजु भणइ मुणालवइ,
विघन न बेढ़इ कोइ ॥ (पृष्ठ ६२)

जइ यह रावणु जाइयो,
दह मुहु इक्कु सरीरु ।
जननि वियंभी चिन्तवइ,
कवनु पियाइए खीरु ॥ (पृष्ठ ७०)

कसुं करु पुत्र कलत्र धी,
कसु करु करसण बाड़ि ।
आइवु जाइवु एकला
हत्थ...विचैवि झाड़ि ॥ (पृष्ठ १२१)

मुंजु भणइ मुणालवइ,
जुव्वणु गयउ न झूरि ।
जइ सक्कर सयखंड थिय,
तोइ स मीठी चूरि ॥ (पृष्ठ ५९)

इन पद्योंमें यद्यपि अपभ्रंश शब्द अधिक हैं, तो भी इनके समझनेमें पृथ्वीराज रासोकी अपेक्षा अधिक कठिनाई नहीं पड़ती। इसलिए इनकी भाषाको प्राचीन हिन्दी कहनेमें हमें कोई संकोच नहीं होता।

१ मृणालवती । २ विजृम्भित होकर-घबड़ाकर ।
३ क्षीर-दूध । ४ कृश कर । ५ दोनों । ६ यौवन ।

पन्द्रहवीं शताब्दी ।

१ गौतमरासा । पन्द्रहवीं शताब्दीका सबसे पहला ग्रन्थ 'गौतमरासा' मिला है। इसे संवत् १४१२ में उदयवंत या विजयभद्र नामके श्वेताम्बर साधुने बनाया है। पाटनमें इसकी एक प्रति १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्धकी लिखी हुई मिली है। यह ग्रन्थ छप गया है, पर शुद्ध नहीं छपा इसके प्रारंभके कुछ पद्य ये हैं:—

वीर जिणेसरचरणकमल-
कमलाकयवासो,
पणमवि पभणिसु सामि
साल गौयमगुरुरासो ।
मणु तणु चरणु एकंतु
करवि निंसुणउ भो भविया,
जिम निवसइ तुम्ह देहि
गेहि गुणगण गहगहिया ॥ १ ॥

जंबुदीवि सिरिभरहाखित्ति
खोणीतलमंडणु,
मगधदेस सेणिय नरेस
रिउं-दलवल खंडणु ।
धणवर-गुव्वर नाम गामु
जहिं गुणगणसज्जां,
विणु वसे वसुभूइ
तत्थ जसु पुह्वी भज्जा ॥ २ ॥

ताण पुत्तु सिरि इंदभूइ
भूवलयपसिद्धउ,
चउदहविज्जां विविहरूप
नारी-रस विद्धउ ।
विनय विवेकि विचार सार
गुणगणह मनोहरु,

१ कमलाकृतवासः—जिनमें लक्ष्मीका निवास है ।
२ स्वामि । ३ गौतम । ४ सुनो । ५ जम्बूद्वीप ।
६ श्रीभरतक्षेत्र । ७ क्षोणीतलमंडन । ८ श्रेणिक ।
९ रिपु । १० सजी हुई । ११ विप्र । १२ वसुभूति ।
१३ पृथ्वी नामकी भार्या । १४ इन्द्रभूति । १५ विद्या

सात हाथ सुप्रमाण देह
रूपिहिं रंभावरु ॥ ३ ॥
नयणवयण करचराणि
जिण वि पंकजजलि पाडिय,
तेजिंहि ताराचंद सूर
आकासि भमाडिय ।
रूविहि मयण अनंग
करावि मेलिहउ निहाडिय,
धीरिम मेरु गंभीरि
सिंधु चंगिम चय चाडिय ॥ ४ ॥

२ ज्ञानपंचमी चउपई । मगधदेशमें वि-
हार करते समय जिनउदयगुरुके शिष्य और
ठक्कर माल्हेके पुत्र विद्धणूने संवत् १४२३ में
इसकी रचना की है । उदाहरण:—

जिणवर सासाणि आछइ सारु,
जासु न लब्भइ अंत अपारु ।
पढ़हु गुणहु पूजहु निसुनेहु,
सियपंचमिफल कहियउ एहु ॥ १ ॥
सियपंचामि फलु जाणइ लोइ,
जो नर करइ सो दुंहिउ न होइ ।
संजम मन धरि जो नरु करइ,
सो नरु निश्चइ दुत्तरु तरइ ॥ २ ॥
ओंकार जिणइ (?) चउवीस,
सारइ सामिनि करउ जगीस ।
वाहग हंस चडी कर वीण,
सो जिण सासाणि अच्छइ लीण ॥ ३ ॥
अठदल कमल ऊपनी नारि,
जेण पयासिय वेदइ चारि ।
ससिहर बिंबु अमियरसु फुरइ,
नमस्कार तसु 'विद्धणु' करइ ॥ ४ ॥
चिंतासायर जवि नरु परइ,
घर धंधल सयलइ वीसरइ ।

१ अपने नेत्रों, वचनों, हाथों और चर-
णोंकी शोभासे पराजित करके जिसने पंकजोंको
जलमें पठा दिये । २ तेजसे चन्द्रसूर्यको आकाशमें
भमाया । ३ रूपसे मदनको अनंग (विना अंगका)
बनाके निद्रादित कर दिया या निकाल दिया ।
४ श्रुतपंचमी । ५ दुखी । ६ दुस्तर ।

कोहु मानु माया (मद्) मोहु,
जर झंपे परियउ संवेहु ॥ ५ ॥
दान न दिन्नउ मुनिवर जोगु,
ना तप तापिउ न भोगेउ भोगु ।
सावय घराहि लियउ अवतारु,
अनुदिनु मनि चितहु नवकारु ॥ ६ ॥

इस ग्रन्थकी प्राचीन हिन्दी और भी अधिक
स्पष्ट हैं । यह गुजरातीकी अपेक्षा हिन्दीकी ओर
बहुत अधिक झुकती हुई है ।

३ धर्मदत्तचरित्र—इस ग्रन्थका उल्लेख
मिश्रबन्धुओंने अपने इतिहासमें किया है । इसे
संवत् १४८६ में दयासागरसूरिने बनाया था ।

सोलहवीं शताब्दी ।

१ ललितांगचरित्र । इसे शान्तिसूरिके
शिष्य ईश्वरसूरिने मण्डपदुर्गा (मंडलगढ) के
बादशाह गयासुद्दीनके पुत्र नासिर्द्दीनके समय
(वि० सं० १५५५-१५६९) में, मलिक माफ-
रके पट्टधर सोनाराय जीवनके पुत्र पुंज मंत्रीकी
प्रार्थनासे सं० १५३१ में बनाया है । इसकी
रचना बड़ी सुन्दर है । प्राकृत और अपभ्रंशका
मिश्रण बहुत है । कवि स्वयं अपने काव्यकी
प्रशंसा आर्या छन्दमें इस प्रकार करता है:—

सालंकारसमत्थं
सच्छंदं सरससुगुणसंजुतं ।
ललियंगकुमरचरियं
ललणाललियव्य निसुणेह ॥

अब थोड़ेसे पद्य और देखिए:—

माहिमहाति मालवदेश,
धण कणयलच्छि निवेश ।

तिहं नयर मंडवदुग्ग,
अहिनवउ जाण कि संग्ग ॥ ६७ ॥

तिहं अतुलबल गुणवंत,
श्रीग्याससुत जयवंत ।

१ कनक-सुवर्ण । २ अभिनव । ३ स्वर्ग ।

समरत्थ साहसधीर,
श्रीपातसाह निसीर ॥ ६८ ॥
तसु राज्जि सकल प्रधान,
गुरु रुवरयण निधान ।
हिंदुआ राय वंजीर,
श्रीपुंज मयणह वीर ॥ ६९ ॥
सिरिमाल-वंशवयंस,
मानिनीमानसहंस ।
सोनाराय जीवमपुत्त,
बहुपुत्त परिवर जुत्त ॥ ७० ॥
श्रीमलिक माफर पाट्टि,
हयगय सुहड बहु चट्टि ।
श्रीपुंज पुंज नरिंद,
बहु कवित केलि सुछंद ॥ ७१ ॥
नवरस विलासउ लोल,
नवगाहगेयकलोल ।
निज बुद्धि बहुअ विनाणि,
गुरु धम्मफल बहु जाणि ॥ ७२ ॥
इयपुण्यचरिय प्रबंध,
ललिअंग नृपसंबंध ।
पहुं पासं चरियह चित्त,
उद्धरिय एह चरित्त ॥ ७३ ॥

२ सार-सिखामन रासा। यह ग्रन्थ इन्दौ-
रके श्रीमान् यति माणिकचन्दजीके भण्डारमें है;
और उक्त यति महोदयकी कृपासे हमें
प्राप्त हुआ था। बड़ तपगच्छके जयसुन्दर
सूरके शिष्य संवेगसुन्दर उपाध्यायने संवत्
१५४८ में इसकी रचना की है। कोई
२५० पद्योंमें यह समाप्त हुआ है। रचना
साधारण है। रातको न खाना, छना हुआ पानी
पीना, जीवघात नहीं करना, अमुक अमुक
अमश्य पदार्थ नहीं खाना आदि बातोंकी शिक्षा
(सिखापन) इसमें दी गई है। भाषामें गुज-
तीकी झलक है-कहीं कहीं अधिक है-तो भी

१ राज्यमें। २ हिन्दू। ३ मंत्री। ४ श्रीमालवंशके
अवतंस-मुकुट। ५ विज्ञानी। ६ प्रभु। ७ पार्श्व।

वह हिन्दी है। कविको श्वेताम्बर सम्प्रदायकी
प्रधान भाषा गुजरातीका परिचय अधिक रहा
है, ऐसा जान पड़ता है।

४ यशोधर चरित्र। लाहौरके बाबू ज्ञान-
चन्दजीने अपनी सूचीमें फर्फौडू ग्रामनिवासी
गौरवदास नामके जैनविद्वानके बनाये हुए इस
ग्रन्थका उल्लेख किया है और इसके बननेका
समय १५८१ बतलाया है। जयपुरके बाबा
डुलीचन्दजीके सरस्वतीसदनमें इसकी एक प्रति
मौजूद है। बाबाजीने अपनी जैनशास्त्रमालामें
इसे लिखा है।

५ कृपणचरित्र। यह छोटासा पर बहुत
ही सुन्दर और प्रसादगुणसम्पन्न काव्य बम्बई
दिगम्बर जैनमन्दिरके सरस्वतीभण्डारमें एक
गुटकेमें लिखा हुआ मौजूद है। इसमें कविने
एक कंजूस धनीका अपनी आँसों देखा हुआ
चरित्र ३५ छण्य छन्दोंमें किया है। घेलहके
बेटे ठकुरसी नामके कवि इसके रचयिता हैं।
वे १६ वीं शताब्दीके कवि हैं। पन्द्रहसौ
अस्सीमें उन्होंने इसकी रचना की है, जैसा कि वे
अन्तके छण्यमें कहते हैं:—

इसौ जाणि सहु कोई,
मरम मूरिख धन संच्यो ।
दान पुण्य उपगारि,
दित धणु किवै ण खंच्यो ॥
मैं पंदरा सौ असइ,
पोष पांचै जागि जाण्यौ ।
जिसौ कृपणु इक दीठु,
तिसौ गुणु तासु बखाण्यौ ॥
कवि कहइ ठकुरसी घेलहतणु,
मैं परमत्थु विचारियौ ।
खरचियौ त्याहं जीत्यौ जनसु
जिह सांच्यौ तिह हारियौ ।

कवि अपनी कथाका प्रारंभ इस प्रकार
करता है:—

कृपण एक परसिद्ध,
नयरि निवसंतु निलक्खण ।
कही करम संजोग
तासु घरि, नारि विचक्खण ॥
देखि दुहूकी जोड़,
सयलु जग रहित तमासै ।
याहि पुरिषकै याहि,
दई किम दे इम भासै ॥
वह रद्यौ रीति चाहै भली,
दाण पुज्ज गुण सील सति ।
यह दे न खाण खरचण किवै,
दुवै करहि दिणि कलह अति ।
गुरसौं गोठिं न करै,
देव देहुतौ न देखै ।
मांगिण भलि न देइ,
गालि सुणि रहै अलेखै ॥
सगी भतीजी भुवा बहिणि,
भाणिजी न ज्यावै ॥
रहै रूसणी माडि,
आप न्यौतौ जव आवै ॥
पाहुणौ सगौ आयौ सुणै,
रहइ छिपिउ मुहु राखि करि ।
जिव जाय तवहि पाणि नीसरइ,
इम धनु संच्यौ कृपण नर ॥

एक दिन कृपणकी स्त्रीने कहा कि गिरनार-
जीकी यात्राके लिए बहुतसे लोग जा रहे हैं,
यदि आप भी मुझे लेकर यात्रा करा लावें, तो
अपना धन पाना सफल हो जाय। इस पर सेठ
जी बड़े खफा हुए। दोनोंमें बहुत देर तक
विवाद होता रहा। सेठानीने धनकी सफलता दान
भोग आदिसे बतलाई और सेठने उसका विरोध
किया। अन्तमें सेठजी तंग आकर घरसे चल
दिये। मार्गमें उनका एक पुराना मित्र
मिला, वह भी कंचूस था। उसने पूछा, आज
तुम उन्मना और दुर्बल क्यों हो रहे हो? सेठजी
उत्तर देते हैं:-

कृपण कहै रे मीत,
मज्झु घरि नारि सतवै ।
जात चालि धणु खरचि,
कहै जो मोहि न भावै ॥
तिहि कारण दुब्बलौ,
रथण दिन भूख न लागै ।
मीत मरणु आइयौ,
गुज्झु आसौ तू आगै ॥

ता कृपण कहै रे कृपण सुणि,
मीत न कर मनमाहि दुखु ।
पीहरि पठाइ दै पापिणी,
ज्यौं को दिण तू होइ सुखु ॥ २१ ॥

स्थानाभावसे अब हम और पद्य उद्धृत नहीं
कर सकते। आखिर सेठजी घर आये और एक
झूठी चिट्ठी घरवालीके सामने पढ़कर बोले कि
तुम्हारे बड़े भाईके पुत्र उत्पन्न हुआ है, इसलिए
उन्होंने तुम्हें बुलानेके लिए यह चिट्ठी देकर आदमी
भेजा है। तुम्हें पीहर चली जाना चाहिए।
बेचारीको जाना पड़ा। इसके बाद यात्रियोंका
संघ चला गया। जब कुछ समयके बाद वह
सकुशल लौट आया और उसमें सेठने देखा कि
कई लोग मालामाल होकर आगये हैं, तब उसे
बड़ा दुःख हुआ कि मैं धर्यों न गया। मैं जाता
तो खूब क्रिफायतशारीसे रहता और इनसे भी
अधिक धन कमा लाता। इस दुःखसे वह रात
दिन दुःखी रहने लगा और धीरे धीरे
मरणशय्यापर पड़ गया। लोगोंने बहुत
समझाया कि अब तू कुछ दानधर्म कर ले, पर
उसने किसीकी न सुनी। वह बोला, मैं सारे
धनको साथ ले जाऊंगा। उसने लक्ष्मीसे
प्रार्थना कि मैंने तुम्हारी जीवनभर एकनिष्ठतासे
सेवा की है, अब तुम मेरे साथ चलो। लक्ष्मीने
कहा, कि मेरे साथ ले चलनेके जो कई दानादि

उपाय थे उन्हें तूने किये नहीं, इसलिए मैं तेरे साथ नहीं जा सकती। कृपण मर गया और नरकमें तरह तरहके दुःख भोगने लगा। इधर उसके मरनेसे लोग बहुत खुश हुए और कुटुम्बी आदि आनन्दसे धनका उपभोग करने लगे। यही इस चरित्रका सार है। कविने कथा अच्छी चुनी है। रचना उसकी एक आँखों देखी घटना पर की गई है, इस कारण उसमें प्राण हैं। मालूम नहीं, इस कविकी और भी कोई रचना है या नहीं।

५ रामसीताचरित्र । इस ग्रन्थका उल्लेख मिश्रबन्धुओंने अपने हिन्दीके इतिहासमें किया है। इसे बालचन्द्र जैनने विक्रम संवत् १५७८ में बनाया है।

सत्रहवीं शताब्दी ।

इस शताब्दीके बने हुए जैनग्रंथ बहुत मिलते हैं। इसमें हिन्दीकी खासी उन्नति हुई है। हिन्दीके अमर कवि तुलसीदासजी इसी शताब्दीमें हुए हैं।

१ बनारसीदास । इस शताब्दीके जैनकवि और लेखकोंमें हम कविवर बनारसीदासजीको सर्व श्रेष्ठ समझते हैं। यही क्यों, हमारा तो खयाल है कि जैनोंमें इनसे अच्छा कवि कोई हुआ ही नहीं। ये आगरेके रहनेवाले श्रीमाल वैश्य थे। इनका जन्म माघ सुदी ११ सं० १६४३ को जौनपुर नगरमें हुआ था। इनके पिताका नाम खरगसेन था। ये बड़े ही प्रतिभाशाली कवि थे। अपने समयके ये सुधारक थे। पहले श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुयायी थे, पीछे दिगम्बरसम्प्रदाय-मुक्त हो गये थे; परन्तु जान पड़ता है, इनके विचारोंसे साधारण लोगोंके विचारोंका मेल नहीं खाता था। ये अध्यात्मी या वेदान्ती थे। क्रियाकाण्डको ये बहुत महत्त्व नहीं देते थे। इसी कारण बहुतसे लोग इनके विरुद्ध हो गये

थे। यहाँ तक कि उस समयके मेघविजय उपाध्याय नामके एक श्वेताम्बर साधुने उनके विरुद्ध एक 'युक्तिप्रबोध' नामका प्राकृत नाटक (स्वोपज्ञ संस्कृतटीकासहित) ही लिख डाला था, जो उपलब्ध है। उससे मालूम होता है कि इनको और इनके अनुयायियोंको उस समयके बहुतसे लोग एक जुदा ही पन्थके समझने लगे थे।

बनारसीदासजीके बनाये हुए चार ग्रन्थ-१ बनारसीविलास, २ नाटक समयसार, ३ अर्द्ध कथानक और ४ नाममाला (कोष) प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे पहले तीन उपलब्ध हैं। दो छप चुके हैं और तीसरेका आशय पहलेके साथ प्रकाशित हो चुका है। बनारसीविलास कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है, किन्तु उनकी कोई ६० छोटी बड़ी कविताओंका संग्रह है। यह संग्रह जगजीवन नामके एक आगरेके कविने संवत् १७०१ में किया था। सूक्तमुक्तावली, समयसारकलशा, और कल्याणमन्दिर स्तोत्र नामकी तीन कविताओंको छोड़कर इस संग्रहकी सब रचनारथे स्वतंत्र हैं, और एकसे एक बढ़कर हैं। अध्यात्मके प्रेमी उनमें तन्मय हो जाते हैं। समयभावके कारण हम दो चार दोहे सुनाकर ही संतोष करेंगे:—

एक रूप हिन्दू तुरुक,
दूजी दशा न कोइ ।
मनकी डुविधा मानकर,
भये एकसों दोइ ॥ ७ ॥
दोऊ भूल भरममें,
करें वचनकी टेक ।
'राम राम' हिन्दू कहें,
तुरुक 'सलामालेक' ॥ ८ ॥
इनकें पुस्तक वांचिए,
वे हू पढ़ें कितेव ।
एक वस्तुके नाम द्वय,
जैसैं 'शोभा' 'जेव' ॥ ९ ॥

तिनकों दुविधा-जे लखै,
रंग विरंगी चाम ।
मेरे नैनन देखिए,
घट घट अन्तर राम ॥ १० ॥
यहै गुप्त यह है प्रगत,
यह बाहर यह माहिं ।
जब लग यह कछु है रहा,
तब लग यह कछु नाहिं ॥ ११ ॥

दूसरा ग्रन्थ नाटक समयसार है । प्राकृत भाषामें भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यका बनाया हुआ समयसार नामका एक ग्रन्थ है और उस पर अमृतचन्द्राचार्य कृत संस्कृत व्याख्यान हैं । नाटक समयसार इन्हीं दोनों ग्रन्थोंको आधार मानकर लिखा गया है । मूल और व्याख्यानके मर्मको समझ कर उसे इन्होंने अपने रंगमें रंगकर अपने शब्दोंमें अपने ढंगसे लिखा है । बड़ा ही अपूर्व ग्रन्थ है । इसका प्रचार भी खूब है । श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें इसका खूब ही आदर है । इस पर कई टीकायें भी बन चुकी हैं और उनमेंसे दो छप भी गई हैं । जो सज्जन वेदान्तके प्रेमी हैं, उनसे हमारा अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थको अवश्य ही पढ़ें । जैन-धर्मके सिद्धान्तोंका जिन्हें परिचय है, वे इसे पढ़कर अवश्य प्रसन्न होंगे । इसका केवल एक ही सीधा साधा पद्य सुनाकर मैं आगे बढ़ूँगा:—

भैया जगवासी, तू उदासी हैकै जगतसौं,
एक छै महीना उपदेस मेरो मानु रे ।
और संकलप विकलपके विकार तजि,
बैठिके एकंत मन एक ठौर आनु रे ॥
तेरौ घट सर तामैं तू ही है कमल वाकौ,
तू ही मधुकर है सुवास पहिचानु रे ।
प्रापति न है है कछु ऐसैं तू विचारतु है,
सही है है प्रापति सरूप यौही जानु रे ॥

भाषाकी दृष्टिसे भी इसकी रचना उच्चश्रेणीकी है । भाषापर कविको पूरा अधिकार है । श-

ब्दोंको तोड़े-मरोड़े बिना उन्होंने उनका प्रयोग किया है । छन्दोभंगादि दोषोंका उनके ग्रन्थमें अभाव है ।

तीसरा ग्रन्थ अर्धकथानक है । यह ग्रन्थ उन्हें जैनसाहित्यके ही नहीं, सारे हिन्दी साहित्यके बहुत ही ऊँचे स्थानपर आरूढ़ कर देता है । एक दृष्टिसे तो वे हिन्दीके बेजोड़ कवि सिद्ध होते हैं । इस ग्रन्थमें वे अपना ५५ वर्षका आत्मचरित लिखकर हिन्दीसाहित्यमें एक अपूर्व कार्य कर गये हैं और बतला गये हैं कि भारतवासी आजसे तीन सौ वर्ष पहले भी इतिहास और जीवनचरितका महत्त्व समझते थे और उनका लिखना भी जानते थे । हिन्दीमें ही क्यों, हमारी समझमें शायद सारे भारतीय साहित्यमें (मुसलमान बादशाहोंके आत्मचरितोंको छोड़कर) यही एक आत्मचरित है, जो आधुनिक समयके आत्मचरितोंकी पद्धति पर लिखा गया है । हिन्दी भाषाभाषियोंको इस ग्रन्थका अभिमान होना चाहिए ।

अर्धकथानक छोटासा ग्रन्थ है । सब मिलाकर इसमें ६७३ दोहा-चौपाइयों हैं । इसमें कविने अपना विक्रम संवत् १६९८ तक का ५५ वर्षका जीवनचरित लिखा है । ग्रन्थके अन्तमें कविने लिखा है कि आजकलकी उत्कृष्ट आयुके हिसाबसे ५५ वर्षकी आयु आधी है । इस लिए इस ५५ वर्षके चरितका नाम 'अर्धकथानक' हुआ है । यदि जीता रहा और बन सका, तो मैं शेष आयुका चरित और भी लिख जाऊँगा । मालूम नहीं कविवर आगे कब तक जीते रहे और उन्होंने आगेका चरित लिखा या नहीं । जयपुरके बाबा दुलीचन्द्रजीने अपनी सूचीमें बनारसीपद्धति नामका ५०० श्लोकपरिमित एक और ग्रन्थका उल्लेख किया है । आश्चर्य नहीं, जो उसीमें उनकी शेषजीवनकी कथा सुरक्षित हो ।

अर्धकथानकमें कविवरने अपने जीवनकी तमाम छोटी मोटी दुखसुखकी बातोंका बहुत ही अच्छे ढंगसे वर्णन किया है जिनका पढ़ने-वालों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उन्होंने अपने तमाम बुरे और भले कर्मोंका—गुणों और अव-गुणोंका—इसमें चित्र खींचा है। वे जहाँ अपने गुणोंका वर्णन करते हैं वहाँ दुर्गुणोंका भी करते हैं। दुर्गुण भी ऐसे वैसे नहीं, जिन्हें साधारण लोग स्वप्नमें भी नहीं कह सकते हैं, उन्हें उन्होंने लिखा है। इससे उनकी महानु-भावता प्रकट होती है—यह मालूम होता है कि उनका आत्मा कितना बहुत ही और संसारके मानापमानसे परे आकाशमें विहार करनेवाला था। अपनी जीवनकथासे सम्बन्ध रखनेवाली उस समयकी उन्होंने ऐसी अनेक बातोंका वर्णन किया है जो बहुत ही मनोरंजक और कुतूहलवर्द्धक हैं। मुगल बादशाहोंके राज्यमें वणिक महाजनोंको जो कष्ट होते थे, साधारण प्रजा जो कष्ट पाती थी, अधिकारी लोग जो अत्याचार करते थे, उनका वर्णन भी इसमें जगह जगह पर पाया जाता है। विक्रम संवत् १६७३ में आगरेमें प्लेग रोगका प्रकोप हुआ था, इस घटनाका भी कविने उल्लेख किया है:—

इस ही समय इति विस्तरि,
परी आगरे पहिली मरी।
जहाँ तहाँ सब भागे लोग,
परगट भया गांठका रोग ॥ ५७४

निकसै गांठि मरै छिन माहिं,
काहूकी बसाय कछु नाहिं।
चूहे मरै वैद्य मर जाहिं,
भयसौं लोग अन्न नहिं खाहिं ॥ ७५

बनारसीदासजी पर एक बार बड़ी विपत्ति आई थी। उनके पास एक पाई भी खर्च कर-

नेके लिए नहीं थी। सात महीने तक वे एक कचौरीवालेकी दूकानसे दोनों वक्त पूरी कचौरी उधार लेकर खाते रहे। जब हिसाब किया, तो उसका दाम कुल १४ रुपया हुआ! अर्थात् उस समय आगरे जैसे शहरमें दो रुपये महीनेमें आदमी दोनों वक्त बाजारकी पूरी कचौरी खा सकता था। इससे उस समयके 'सुकाल' का पता लगता है। जिस समय बादशाह अकबरके मरनेका समाचार जौनपुर पहुँचा, उस समय वहाँके निवासियोंकी दशाका वर्णन कविने इस प्रकार किया है:—

इसही बीच नगरमें सोर,
भयौ उदंगल चारिहु ओर।
घर घर दर दर दिये कपाट,
हटवानी नहिं बैठे हाट ॥ ५२ ॥

भले वस्त्र अरु भूषण भले,
ते सब गाड़े धरती तले।
हंडवाई (?) गाड़ी कहुं और,
नगद माल निरभरमी ठौर ॥ ५३ ॥

घर घर सबनि विसाहे सख,
लोगन्ह पहिरे मोटे वस्त्र।
ठाढौ कंबल अथवा खंस,
नारिन पहिरे मोटे वेस ॥ ५४ ॥

ऊँच नीच कोऊ न पहिचान,
धनी दरिद्री भये समान।
चोरी धारि दिसै कहुं नाहिं,
योही अपभय लोग डराहिं ॥ ५५

इससे श्रोतागण उस समयके राजशासनकी परिस्थितियोंका बहुत कुछ अनुमान कर सकेंगे।

समय न रहनेके कारण मैं इस ग्रन्थका और अधिक परिचय नहीं दे सकता। जो महाशय अधिक जानना चाहते हों, वे मेरे द्वारा सम्पादित बनारसीविलासके प्रारंभमें इस ग्रन्थका विवरण पढ़नेका कष्ट उठावें।

यद्यपि इस ग्रन्थकी रचना नाटकसमयसार जैसी नहीं है, तो भी विषयके लिहाजसे वह खासी है। कहीं कहींका वर्णन बड़ा ही स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी है। अपने भाई घनमलकी मृत्युका शोक कविने इस प्रकार वर्णन किया है:—

घनमल घनदल उड़ि गये,
काल-पवन-संजोग ।

मात पिता तरुवर तए,
लहि आलप सुत-सोग ॥ १९

जब कविवर एक बड़ी बीमारीसे मुक्त होकर-
ससुरालसे घर आये तब—

आय पिताके घर गहे,
मा रोई उर ठोकि ।
जैसे चिरी कुरीजकी,
त्यों सुत दशा विलोकि ॥ १९४ ॥

एक बार परदेशमें कवि अपने साथियोंके सहित कहीं ठहरे कि इतनेमें मूसलधार पानी बरसने लगा। तब भागकर सरायमें गये, पर वहाँ जगह न मिली, कोई उमराव ठहरे हुए थे; बाजारमें खड़े होनेको जगह न थी, सबके कि-
दाड़ बन्द थे। उस समयका चित्र कविवर इस तरह खींचते हैं:—

फिरत फिरत फावा भये,
बैठन कहै न कोइ ।
तलै कीचसौं पग भरें,
ऊपर वरसत तोइ ॥ ९४ ॥
अंधकार रजनी विषैं,
हिमरितु अगहन मास ।
नारि एक बैठन कह्यौ,
पुरुष उठ्यौ लै बाँस ॥ ९५ ॥

बनारसीदास अपने दूसरे पुत्रकी मृत्युका उल्लेख इन शब्दोंमें करते हैं—

बानारसिके दूसरो, भयौ और सुत-कीर ।
दिवस कैकुमै उड़ि गयौ, ताजि पाँजरा सरीर ॥

चौथा ग्रन्थ नाममाला हिन्दीका दोहाबद्ध कोश है। इसे हमने अभीतक देखा नहीं है, पर खोजनेसे यह मिल सकता है। कविवरका एक और ग्रंथ शृंगाररसकी रचनाओंका संग्रह था जिसे उन्होंने स्वयं जमुनामें बहा दिया था। उन्हें इस विषयसे घुणा होगई थी और यही कारण था जो उन्होंने उसका अस्तित्व ही न रहने दिया।

२ कल्याणदेश। ये श्वेताम्बर साधु जिनचन्द्र सूरिके शिष्य थे। इनके बनाये हुए 'देवराज बच्छराज चउपई' नामक एक ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रति हमें श्रीमान् यति माणिकचन्द्रजीकी कृपासे प्राप्त हुई है। संवत् १६४३ में यह ग्रन्थ विक्रम नामक नगरमें रचा गया है। इसमें एक राजाके पुत्र बच्छराज और देवराजकी कहानी है। बच्छराज बड़ा था, परन्तु मूर्ख था, इस कारण राज्य देवराजको मिला। बच्छराज्य घरसे निकल गया, पीछे अनेक कष्ट सहकर और अपनी उन्नति करके आया। भाईने बहुत सी परीक्षा-यें लीं। अन्तमें बच्छराज उत्तिर्ण हुआ और आधे राज्यका स्वामी हो गया। रचना साधारण है। भाषामें गुजरातीका मिश्रण है और यह बात श्वेताम्बर सम्प्रदायके हिन्दी साहित्यमें अक्सर पाई जाती है। नमूना—

जिणवर चरणकमल नर्मि,
सुह गुरु हीय धरैसि ।
समरथां सवि सुख संपजइ,
भाजइ सयल कलेसि ॥ १

बुद्धइ घणसुख पाइए,
बुद्धइ लहिए राज ।
बुद्धइ अति गरुअउपणउ,
बुद्धि सरइ सवि काज ॥ ३

विद्याधर कुल ऊपनी,
सुरवेगा अभिधान ।

राजानी अति मानिता,
वनितामाहिं प्रधान ॥ ७६ ॥
संवत सोल त्रयाला वरसिइ,
एह प्रबन्ध कियउ मन हरसिहि ।
विक्रम नयरइ रिषभ जिणेसा, जसु
समरण सवि टलइ किलेसा ॥ ८४ ॥

सरस कथा जइ होई तौ,
सुणइ सविहि मन लाइ ।
जिहाँ सुवास होवहि कुसुम,
सरस मधुप तिहाँ जाइ ॥

अंतः—भावदेवसूरि गुणनिलउ,
बडगळ-कमल-दिणंद ।
तासु सुसीस शिष्य (?) कहइ,
मालदेव आनंद ॥”

३ मालदेव । ये बड़गच्छीय भावदेवसूरिके शिष्य थे । साधारणतः ये ‘माल’ के नामसे प्रसिद्ध हैं । अपने ग्रन्थोंमें भी ये ‘माल कहइ’ या ‘माल भणइ’ इस तरह अपना उल्लेख करते हैं । इनके बनाये हुए दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, एक ‘भोज-प्रबन्ध’ और दूसरा ‘पुरन्दरकुमरचउपई’ । ‘पुरन्दरकुमरचउपई’ विक्रम संवत् १६५२ का बना हुआ है । यह ग्रन्थ श्रीयुत मुनि जिनाविजयजीके पास है । इसक्रे विषयमें आप अपने पत्रमें लिखते हैं कि “यह पुरन्दर कुमर चउपई ग्रन्थ हिन्दीमें है (गुजरातीमें नहीं) । इसे मैंने आज ही ठीक ठीक देखा है । रचना अच्छी और ललित है । जान पड़ता है ‘माल’ एक प्रसिद्ध कवि हो गया है । गुजरातीके प्रसिद्ध कवि ऋषभदासने अपने ‘कुमारपाल रास’ में जिन प्राचीन कवियोंका स्मरण किया है, उनमें मालका नाम भी है । वह ‘माल’ और कोई नहीं किन्तु ‘भोज-प्रबन्ध’ और ‘पुरंदर चउपई’ का कर्ता ही होना चाहिए । ‘पुरंदर चउपई’ का आदि और अन्तिमभाग यह हैः—

आदिः—

वरदाई श्रुत देवता,
गुरु प्रसादि आधार ।
‘कुमर-पुरंदर’ गाइस्सू,
सीलवंत सुविचार ॥
नरनारी जे रसिक ते,
सुणियहु सब चितु लाइ ।
द्वेष्ट न कब दि धुमाइयहिं,
विना सरस तरु नाइ ॥

ये लोग सिन्ध और पंजाबके मध्यमें रहा करते थे । ऐसा सुना गया है कि भावदेवसूरिके उपाश्रय अब भी बीकानेर राज्यके ‘भटनेर’ और ‘हनुमानगढ़’ नामक स्थानोंमें हैं । ”

दूसरा ग्रन्थ ‘भोजप्रबन्ध’ उक्त मुनि महोदयने मेरे पास भेज देनेकी कृपा की है । इसकी प्रतिमें शुरूके दो पत्र, अन्तका एक पत्र और बीचके २०से २४ तकके पृष्ठ नहीं हैं । पद्यसंख्या १८०० है । इसमें तीन सम्बन्ध या अध्याय हैं । पहलेमें भोजके पूर्वजोंका, भोजके जन्मका और वररुचि धनपालादि पण्डितोंकी उत्पत्तिका वर्णन है, दूसरेमें परकायाप्रवेश, विद्याभ्यास, देवराजपुत्र-जन्म, और मदनमंजरीका विवाह तथा तीसरेमें देवराज बच्छराज विदेशगमन और भानुमतीके समागमका वर्णन है । यद्यपि यह प्रबन्ध-चिन्तामणि तथा बल्लालके भोजप्रबन्ध आदिके आधारसे बनाया गया है; तथापि इसकी रचना स्वतंत्र है । ‘कविरनुहरतिच्छायां’ के अनुसार उक्त ग्रन्थोंकी छाया ही ली गई है । भाषा प्रौढ है; परन्तु उसमें गुजरातीकी झलक है और अपभ्रंश शब्दोंकी अधिकता है । वह ऐसी साफ नहीं है जैसी उस समयके बनारसीदासजी आदि कवियोंकी है । कारण, कवि गुजरात और राजपूतानेकी बोलियोंसे अधिक परिचित था । वह प्रतिभाशाली जान पड़ता है । कोई कोई पद्य बड़े ही चुभते हुए हैंः—

भलउ हुअउ जइ नीसरी,
अंगुलि सापि-मुहाहु ।
ओछे सेती प्रीतडी,
जादि तुट्टइ तदि लाहु ॥ ९२ ॥

सिन्धुल लौटकर जब राजा-मुंजके समीप
आया, तब मुंज कपटकी हँसी हँसकर उसके
गलेसे लिपट गया। इसको लक्ष्य करके कवि
कहता है:—

धूरत राजा मुंज पणि,
मिल्लउ उठि गलि लागि ।
को जाणइ घन दामिनी,
जल महिँ आछइ आगि ॥ १२० ॥
घणु वरसइ सीयल सलिल,
सोई मिलि हइ विज्जु ।
गरुयहँ तूसई जीवयइ,
रूठई विणसइ कज्ज ॥ १२१ ॥

तैलिपदेवकी लड़ाईमें हार कर राजा मुंज
भागा और एक गाँवमें आया, उस समयका
कविने बड़ा ही सजीव वर्णन किया है:—

वनतें वन छिपतउ फिरउ,
गवहर वनहँ निकुंज ।
भूखउ भोजन मोगिवा,
गोवलि आयउ मुंज ॥ २४७ ॥
गोकुलि काई ग्वारिनी,
ऊँची बइठी खाटि ।
सात पुत्र सातइ बहू,
दही बिलोवहिँ माँटि ॥ ४८ ॥
काढ़हिँ दूध कहुँ केइ मिलि,
माखणु काढ़हिँ केइ ।
केइ पघारहिँ घीउ तहँ,
जिसु भावइ तिसु देइ ॥ ४९ ॥
गाइ वाछरु कट्टरु,
महिषी अंगणि देखि ।
खाजइ पीजइ विलसियइ,
गरव करइ सुविसेखि ॥ ५० ॥

जिस समय मृणालवतीके विश्वासघात करनेसे
फिर मुंज पकड़ा गया और बड़ी दुर्दशाके साथ
नगरमें घुमाया गया, उस समय मुंजके मुँहसे
कविने कई बड़े मार्मिक दोहे कहलवाये हैं:—

खंडित घृतत्रिंदू मिसई,
रे मडका मत रोइ ।
नारी कउण न खंडिया,
मुंज इलापति जोइ ॥ ७ ॥
मिसिन अन्न तूं वाफके,
अग्नि आंचि मत रोइ ।
अग्नि विना हँउँ दासियई,
भसम कियउ किन जोइ ॥ ११ ॥
सालि मुसलि तूं ताडियउ,
तुस कपडा लिय छीनि ।
दासि कटाच्छहिँ मारियउ,
कीयउ हँउँ सबहीन ॥ १२ ॥

इस ग्रन्थकी यह बात नोट करने लायक है
कि इसमें हिन्दीके दोहोंको 'प्राकृतभाषा दोहा'
लिखा है। मालूम होता है उस समय हिन्दी
उसी तरह प्राकृत कहलाती होगी जिस तरह
बम्बईकी ओर इस समय मराठी 'प्राकृत'
कहलाती है।

इस ग्रन्थमें बहुतसे श्लोक 'उक्तं च' कह-
कर लिखे गये हैं, जिनमें बहुतोंकी भाषा अप-
भ्रंशसे बहुत कुछ मिलती हुई है। यथा:—

हुज्जण जण बबूलवण,
जइ सिंचइ अमिण्ण ।
तोइ सु कांटा बींधणा,
जातडि तणइ गुणेण ॥

इसमें बहुतसे पदोंकी ढालें लिखी हुई हैं,
जैसे 'मृगांकलेखा चउपईकी ढाल'। इन
दोनों बातोंसे यह अनुमान होता है कि इस
ग्रन्थसे पहले पुरानी हिन्दीके अनेक ग्रन्थ रहे
होंगे जिनसे उक्त 'उक्तं च' लिये गये हैं और

जिनकी ढालोंका अनुकरण किया गया है। मृगांकलेखाकी कथा श्वेताम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्रसिद्ध है। अतएव 'मृगांकलेखाकी चउपई' कोई जैनग्रन्थ ही था।

४ हेमविजय। ये अच्छे विद्वान् और कवि थे। सुप्रसिद्ध आचार्य हीरविजयसूरिके शिष्योंमेसे थे। इन्होंने विजयप्रशस्ति महाकाव्य और कथा-रत्नाकर आदि अनेक संस्कृत ग्रंथोंकी रचना की है। हिन्दीमें भी इनकी छोटी छोटी रचनायें मिलती हैं। ये आगरा और दिल्ली तरफ बहुत समय तक विचरण करते रहे थे, इस लिए इन्हें हिन्दीका परिचय होना स्वाभाविक है। इन्होंने हीरविजयसूरि और विजयसेनसूरि आदिकी स्तुतिमें छोटे छोटे बहुतसे हिन्दी पद्य बनाये हैं। तीर्थकरोंकी स्तवनाके भी कुछ पद रचे हुए मिलते हैं। नमूनेके तौर पर नेमिनाथ तीर्थकरके स्तुतिपद्यको देखिए।

घनघोर घटा उनयी जु नई,
इततैं उततैं चमकी बिजली।
पियुरे पियुरे पपिहा बिललाति जु,
मोर किंगार (?) करंति मिली।
बिच बिंदु परें दृग आंसु झरें,
दुनि धार अपार इसी निकली।
मुनि हेमके साहिब देखनकूं,
उग्रसेन लली सु अकेली चली।
कहि राजिमती सुमती सखियानकूं,
एक खिनक खरी रहुरे।
सखिरी सगरी अंगुरी मुही बाहि
करति (?) बहुत (?) इसे निहुरे।
अबही तबही कबही जबही,
यदुरायकूं जाय इसी कहुरे।
मुनि हेमके साहिब नेमजी हो,
अब तोरनतैं तुम्ह क्यूं बहुरे।

५ रूपचन्द। ये कविवर बनारसीदासजीके समय आगरमें हुए हैं। बनारसादासजीने अपने

आत्मचरितमें और नाटकसमयसारमें इनका उल्लेख किया है और इन्हें बहुत बड़ा विद्वान् बतलाया है। ये जैनधर्मके अच्छे मर्मज्ञ थे। आध्यात्मिक पाण्डित्य भी इनमें अच्छा था, यह बात इनके 'परमार्थी दोहाशतक' और पदोंके देखनेसे जान पड़ती है। परमार्थी दोहाशतकको हमने पाँच छह वर्ष पहले जैनहितैषीमें प्रकाशित किया था। बड़े ही अच्छे दोहे हैं। उदाहरणः—

चेतन चित् परिचय बिना,
जप तप सबै निरतथ।
कन विन तुस जिमि फटकतैं,
आवै कछु न हत्थ।
चेतनसौं परिचय नहीं,
कहा भये व्रतधारि।
सालि बिहूनैं खेतकी,
वृथा बनावत वारि॥
बिना तत्त्वपरिचय लगत,
अपरभाव अभिराम।
ताम और रस रुचत हैं,
अमृत न चारुयौ जाम॥
भ्रमतैं भूल्यौ अपनपौ,
खोजत किन घटमाहि।
विसरी वस्तु न कर चढ़ै,
जो देखै घर चाहि।
घट भीतर सो आपु है,
तुमाहिं नहीं कछु यादि।
वस्तु मुठामैं भूलिकै,
इत उत देखत वादि॥

प्रत्येक दोहेके पूर्वार्धमें एक बात कही गई है और उत्तरार्धमें वह उदाहरणसे पुष्ट की गई है। सबके सब दोहे इसी प्रकारके हैं। इनमें परमार्थका या आत्माका तत्त्व बड़ी ही सुंदरतासे समझाया गया है।

'गीत परमार्थी' नामका ग्रन्थ भी आपका बना हुआ है, जो अभी तक उपलब्ध नहीं है। हमने एक 'परमार्थ जकड़ीसंग्रह' नामकी पुस्तक

छपाई है, उसमें आपके बनाये हुए छह पद संग्रहीत हैं। जान पड़ता है, ये उसी 'गीतपरमार्थी' के गीत या पद होंगे। इनमें भी परमार्थ तत्त्वका कथन है। एक गीतका पहला पद सुनिए—

चेतन, अचरज भारी,
यह मेरे जिय आवै ।
अमृतवचन हितकारी,
सदगुरु तुमहिं पढ़ावै ॥
सदगुरु तुमहिं पढ़ावै चित दै,
अरु तुमहू हौं ज्ञानी ।
तबहू तुमहि न क्यौहू आवै,
चेतनतत्त्वकहानी ॥
विषयनिकी चतुराई कहिए,
को सरि करै तुम्हारी ।
विन गुरु पुरत कुविद्या कैसे,
चेतन अचरज भारी ॥

आपका एक छोटासा काव्य 'मंगलगीत-प्रबन्ध' जैनसमाजमें बहुत ही प्रचलित है। 'पंचमंगल' के नामसे यह पाँच छह बार छप चुका है। इसमें तीर्थंकर भगवानके जन्म, ज्ञान, निर्वाण आदिके समय जो उत्सवादि होते हैं उनका साम्प्रदायिक मानताओंके अनुसार वर्णन है। रचना साधारण है।

६ रायमल्ल। ये भट्टारक अनन्तकीतिके शिष्य थे। इनका बनाया हुआ एक 'हनुमच्चरित्र' नामका पद्यग्रन्थ है। यह विक्रम संवत् १६१६ में बनाया गया है। यह ग्रन्थ हमें मिल नहीं सका, इस लिए इसकी रचना किस दर्जे की है, यह हम नहीं कह सकते। हमारे एक मित्रने इसकी कविताको साधारण बतलाया है। कविवर बनारसीदासजीने जिन रायमल्लजीका उल्लेख किया है, मालूम नहीं वे यही थे अथवा इनसे भिन्न। बनारसीदासजीने लिखा है कि पाण्डे "रायमल्लजी 'समयसार नाटक' के मर्मज्ञ थे, उन्होंने समय-सारकी बालावबोधिनी भाषा टीका बनाई जिसके कारण समयसारका बोध घर घर फैल गया।" यह

बालावबोध टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। मालूम होता है यह बनारसीदासजीके बहुत पहले बन चुकी थी। उनके समय इसका खासा प्रचार था। अवश्य ही यह पंद्रहवीं शताब्दीकी रचना होगी और भाषाकी दृष्टिसे एक महत्त्वकी वस्तु होगी।

एक और रायमल्ल ब्रह्मचारी हुए हैं जिन्होंने संवत् १६६७ में 'भक्तामरकथा' नामका संस्कृत ग्रन्थ बनाया है। ये सकलचन्द्र भट्टारकके शिष्य थे और हूमड़जातिके थे। मालूम होता है भविष्यदत्तचरित्र (छन्दोबद्ध) और सीताचरित्र (छन्दोबद्ध) नामक ग्रन्थ भी इन्हींके बनाये हुए हैं। इनमेंसे पहला ग्रन्थ सं० १६६३ में बना है, ऐसा ज्ञानचन्द्रजीकी सूचीसे मालूम होता है।

७ कुँवरपाल। ये बनारसीदासजीके एक मित्र थे। युक्तिप्रबोधमें लिखा है कि बनारसीदासजी अपनी सैलीका उत्तराधिकारत्व इन्हींको सौंप गये थे। प्रवचनसारकी टीकामें पाँडे हेमराजजीने इनको अच्छा ज्ञाता बतलाया है। ये कवि भी अच्छे जान पड़ते हैं। इनका कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; परन्तु बनारसीदासकृत सूक्तमुक्तावलीमें इनके बनाये हुए कुछ पद्य मिलते हैं। लोभकी निन्दाका एक उदाहरण—

परम धरम वन दहै,
दुरित अंबर गति धारहि ।
कुयश धूम उदगरे,
भूरि भय भस्म विथारहि ॥
दुख फुलिंग फुंकरै,
तरल तृष्णा कल काढ़हि ॥
धन ईधन आगम सँजोग
दिन दिन अति बाढ़हि ॥
लहलहै लोभ-पावक प्रबल,
पवन मोह उद्धत बहै ॥
दज्झहि उदारता आदि बहु,
गुण पतंग 'कँवरा' कहै-॥ ५९ ॥
(अपूर्ण ।)

सभापतिका व्याख्यान ।

[लखनऊमें गत २७ दिसम्बरको भारत-जैन-महामण्डलके सभापति श्रीयुत बाबू माणिक्यचन्द्र जैन बी. ए. एल. एल. बी. वकील, खण्डवाका जो महत्त्वपूर्ण व्याख्यान हुआ उसका सार भाग । अवश्य पठनीय ।]

प्रिय प्रतिनिधिगण महिलाओ तथा महाशयो,
आपने मुझे इस बड़ीभारी कान्फरन्सका—ऐसी कान्फरन्सका—जो किसी जाति अथवा संप्रदायविशेषकी न होते हुए एक उस समग्र कौमकी कान्फरन्स है, जो कौम संसारके इतिहासमें एक विशाल तथा प्रशस्त भाग लेनेवाले धर्मकी तथा जो मनुष्यजातिको भविष्यमें सदा सुखका देनेवाला रहेगा ऐसे धर्मकी—धारण करनेवाली है, ऐसी संपूर्ण कौमकी इस कान्फरन्सका सभापति चुनकर आपने मुझको बड़ा सम्मान प्रदान किया है, इसके लिए मैं आपको अंतःकरणसे धन्यवाद देता हूं ।

++प्रिय प्रतिनिधिगण, संसारके धार्मिक इतिहासमें हमारे धर्महीने नहीं, हमारी कौमने भी जातियोंके इतिहासमें बहुत बड़ा भाग लिया है । इतिहास हमारे पूर्व गौरवकी साक्षी दे रहा है । प्राचीनकालमें हमारी कौममें बड़े बड़े नृपति, मंत्री तथा सेनापति, विशाल संपत्तिके स्वामी, बड़े बड़े कवि, लेखक तथा धुंधर विद्वान् होगये हैं, जिन्होंने संसारभरमें जैनधर्म तथा जैनजातिके महत्त्वको स्थापित किया था । हमको पश्चिमके विद्वानोंका कुतज्ञ होना चाहिए कि जिनके निःस्वार्थ उद्योगसे हमारा प्राचीन गौरव सिद्ध होता जाता है । कुछ समय पहले यह माना जाता था कि जैनधर्म बौद्धधर्मकी एक शाखा है तथा ईसाके बाद अनुमान छठवीं सदीमें इसकी उत्पत्ति हुई है, किन्तु जैकोबी तथा बूलरके समान पुरातत्त्वके पाश्चात्य शोधकोंके परिश्रमसे यह मत असत्य सिद्ध हो गया है । जैनधर्मकी केवल ऐति-

हासिक प्राचीनता ही नहीं बरन् उसके सिद्धान्तोंकी सत्यता संसारके विचारवान् पुरुष स्वीकृत करते जा रहे हैं । जैनधर्मके लिए यह गौरवकी बात है कि यह एक ऐसा धर्म है कि जिसके सिद्धांत विज्ञानकी नईसे नई शोधोंसे मिलते जुलते हैं । वनस्पतियोंमें मनोवृत्तियां, चेतना तथा भावोंका होना जो आज अध्यापक बोस सिद्ध कर रहे हैं उसकी शोध हमारे आचार्योंने सदियों पहले कर ली थी, जब अर्वाचीन विज्ञानका जन्म भी नहीं हुआ था । यह उचित कहा गया है कि जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसमें व्यावहारिक नीतिका दार्शनिक वितर्कोंके साथ गूढ़ सम्बन्ध किया गया है; अर्थात् जिसमें ज्ञान और चारित्रिका ऐक्य किया गया है ।* स्टोइजिज्म (Stoicism)के विषयमें कहा जाता है कि उसकी श्रेष्ठता उसके चारित्रिके नियमोंमें नहीं परन्तु विकारोंको दमन करनेके उसके सिद्धांतमें विद्यमान थी, किन्तु जैनधर्मके विषयमें हम कह सकते हैं कि उसकी श्रेष्ठता दोनोंमें विद्यमान है । इसीलिए तो देखनेमें आता है कि चारित्रिके जैनी अन्य धर्मोंकी धारक कौमोंसे प्रायः श्रेष्ठ होते हैं । जैनधर्मके लिए यह गौरवकी बात है कि यद्यपि और धर्मोंके समान उसके अनुयायियोंको भी जुल्म सहन करना पड़ा है, परन्तु और धर्मोंके समान उसके अनुयायियोंने बदला लेनेकी इच्छासे किसी अन्य धर्मकी धारक कौमके साथ जुल्म नहीं किया । यह उसके ऊँचे सिद्धान्तोंका परिणाम है और इसका उसे उचित गर्व है । एक लेखकका § कथन

* Mrs. Sinclair Stevenson.

§ Mr. Bernard Bosanquet.

है कि, ' यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि मुसलमानोंके जुल्मसे जैनियोंके मंदिर बच गये, परन्तु आश्चर्य तो इस बातका है कि जिस तूफानने बौद्धधर्मको भारतवर्षसे एकदम बाहर कर दिया उस तूफानसे जैनधर्म नष्ट होनेसे कैसे बच गया ।' महाशयो, यह हमारे धर्मकी दृढ़ताका प्रमाण तथा परिणाम है । जैनधर्म ईश्वरप्रणीत होनेका दावा नहीं करता, न वह आज्ञा-प्रधान धर्म है; वह बुद्धिकी प्रधानता स्वीकार करता है तथा उसके सिद्धान्तोंकी सत्यता ही उसके दावेका आधार है । जैनधर्महीने पहले पहल संसारको समस्त जीवोंके प्रति दया करने तथा विश्वबंधुत्व व सार्वभौमप्रेमका उपदेश किया था । एक प्रसिद्ध अंगरेज़का † कथन है 'कि विश्व-दया (Universal Humanity) का विचार अर्वाचीन है, परन्तु वास्तवमें इस धर्मका उपदेश जैनधर्मने सदियों पहले किया था । हमारे आचार्योंने उपदेश किया है कि:—

**“ एकदु करे मण विण्णु करि,
 मां करि वण्णविसेसु ।
 इक्कइं देवइं जि वसइ,
 तिहुयणु एहु असेसु ॥ ” §**

महाशयगण, प्रसिद्ध लेखक लेकीका कथन है कि प्लूटार्कहीने पहले पहल पशुओंके प्रति दया करनेका उपदेश—पाइथेगोरसके पुनर्जन्मके सिद्धांतके आधार पर नहीं, किन्तु विश्व-बन्धुत्वके विस्तृत आधारपर—किया था; परन्तु लेकीको यह विदित नहीं कि हमारे तीर्थकरोंने प्लूटार्कसे सदियों पहले यही उपदेश मनुष्यजातिको दिया था । जैनधर्मका उद्देश ही समस्त जीवोंकी मुक्ति करानेका है । परन्तु, महाशयो, इतना होते हुए भी कुछ लोगोंका कथन है कि, “ जैनधर्म अहिंसा तत्त्वकी एक हास्यरूप अतिशयोक्तिका उपदेशक है । ”* कुछ

§ परमात्मप्रकाश, गाथा २३४.

* Mrs. Sinclair Stevenson.

लोग हमें इस बातका दोष देते हैं कि हमने “ अहिंसापरमो धर्मः ” के तत्त्वका दुरुपयोग करके उसकी अति कर डाली है जिसका यह परिणाम है कि हम विषयोन्मत्त (Monomaniacs) तथा डरपोक हो गये हैं, व दांभिकता (hypocrisy) अर्थात् मक्र, अपौरुषता व निर्दयताका जीवन व्यतीत करते हैं । ” कुछ लोग कहते हैं कि महावीर स्वामीके जीवनकी घटनायें हमने बुद्धके चरित्रसे चुरा ली हैं । इतना ही नहीं बल्कि हमहीमें कुछ लोग ऐसे विद्यमान हैं जो कहते हैं कि जैनधर्मका ध्येय भौतिक उन्नतिकी बाधक है तथा जैनधर्म ही भारतकी वर्तमान अधोगतिकी कारण है । महाशयो, मेरे पास समय नहीं है कि इस अवसर पर मैं इन सब आक्षेपोंका उत्तर दूं । मैं केवल इतना ही कहूंगा कि वे जैनधर्मके संबंधमें उतना ही ज्ञान रखते हैं जितना कि मेंडक कुएके बाहरकी दुनियांका रखता है, अन्यथा ऐसे विचार वे कदापि प्रकट नहीं करते । जिस लेखिकाका यह कथन है कि जैनधर्मका हृदय शून्य है तथा जिसे वह ईसाई धर्मके रक्तसे भरके उसमें जीवन लानेकी सम्मति देती है उससे मैं यही कहूंगा कि जिसे वह जैनधर्मका हृदय समझती है वह जैनधर्मका हृदय नहीं, किन्तु उसका मृतप्राय शरीर है । जैनधर्मका हृदय उसकी ' वर्तमान स्थिति तथा वर्तमान व्यवहारों ' में नहीं है किन्तु वह उसकी ऊँची फिलासफी तथा नीतिमें विद्यमान है । स्वर्वासी श्रीयुत गांधीने ठीक कहा है कि, “ The abuses existing in our society are not from our religion but in spite of our religion, ”— अर्थात् जैन जातिमें जो वर्तमान कालमें बुराइयाँ देखनेमें आती हैं उनका कारण जैनधर्म नहीं है, परन्तु वे जैनधर्मके विपरीत हैं । ईसाई धर्मके लिए वर्तमान युद्धकी ओर तथा उसके नित्य-नरकके सिद्धांतकी ओर संकेत कर देना पर्याप्त होगा ।

एक विचार-शील लेखकने उचित कहा है कि “ यदि ईसाई धर्म पूर्ण नैतिक शुद्धताका मत है- तो फिर इसका क्या कारण है कि उसका अधिकता तथा गुरुताके साथ इस प्रकार मिथ्या अर्थ समझा गया है कि उसके अनुयायियोंमें उसके लिए जो उत्साह है उसीने उन नैतिक सिद्धान्तोंका जिनका वह उपदेश करता है नाश किया है । इतिहासके पढ़ते समय धार्मिक हठ तथा जुल्मका भाव जिसका आधार प्रायः शुद्धांतःकरणसे ईश्वरीय आज्ञा बताया जाता है उसे देख प्रायः उलझनमें पड़ना पड़ता है ।” अतएव महाशयगण, हमारे धर्मके ऊपर जो आक्षेप किये जाते हैं वे प्रायः मिथ्या हैं, और हमें उनके प्रति अधिक ध्यान देनेकी आवश्यकता नहीं । यदि अब भी हमारे धर्मकी पच्चीस सौ वर्ष पहलेकी विद्यमानता स्वीकृत नहीं की जाती तो न सही । प्राचीन होनेसे ही कोई धर्म श्रेष्ठ नहीं होजाता । स्वामी रामतीर्थने उचित कहा है कि, “ किसी धर्मको प्राचीन होनेहीके कारण ग्रहण मत करो । प्राचीनता उसकी सत्यताको कोई प्रमाण नहीं । कभी कभी पुरानेसे पुराने मकान भी गिराने पड़ते हैं तथा पुराने कपड़े बदलने ही चाहिए । नयेसे नया परिवर्तन भी यदि वह बुद्धिकी परीक्षामें सफल हो सकता है तो वह उतना ही अच्छा है जितना कि चमकते हुए ओससे सुशोभित गुलाबका फूल, ” अतएव, महाशयो, हमें इस प्रकारके आक्षेपोंकी ओर अधिक ध्यान न देकर हमें अपनी शक्तिको अपनी कौमके उत्थान तथा अपने धर्मके प्रचारकी ओर लगाना चाहिए । + + महाशयो, जयपुर निवासी पंडित अर्जुनलालजी सेठीने हमारी जातिकी सेवाके लिए अपना जीवन तक अर्पण कर दिया था, और उन्होंने कौमकी जो सेवा की है वह सब पर प्रकट है । उसको जानते हुए कौन कह सकेगा कि उनका संबन्ध चोरी, लूट तथा खून खराबीके

समान वृणित कार्योंके साथ हो सकता है ? उनका जीवन धार्मिक था, तथा शिक्षा व धर्मप्रचार उनके कार्यक्षेत्र थे । ऐसे व्यक्तिको केवल संदेहके कारण विना जाँच किये दंड देना सर्वथा अनुचित है । अनुमान ढाई तीन वर्षसे वे कारावासका दण्ड भोग रहे हैं । इस प्रकारका जो वर्तव्य उनके साथमें किया गया है उसके प्रति जैन कौममें भारी क्रोध तथा तिरस्कारका भाव पैदा हो गया है और यह स्वाभाविक ही है । प्रिय प्रतिनिधिगण, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अर्जुनलालजीके तथा उनकी निरपराध स्त्री तथा पुत्रके दुःखको देख हमको हार्दिक दुःख हो । माना कि प्रत्येक महापुरुषको दुःख भोगना पड़ता है, और दुःख सहना ही महापुरुषका लक्षण है; माना कि सार्वजनिक जीवनके माने ही स्वार्थत्यागके हैं, अतएव हमको अधिक उदासीन न होना चाहिए; माना कि सेठीजी अपने दुःखको सहर्ष सहन कर रहे होंगे; तौ भी मैं पूछता हूँ कि क्या इसलिए उनके दुःखको दूर करानेका हमारा जो कर्तव्य है उसका हमें पालन न करना चाहिए ? आप मुझे क्षमा कीजिए-कर्तव्यके अनुरोधसे मुझे कहना पड़ता है कि सेठीजीकी आपत्तिका मुझे इतना खेद नहीं है जितना इस बातका है कि जैनजातिने, जिसकी सेवाके लिए उन्होंने अपना जीवन अर्पण किया था, उनके दुःखको दूर करनेके लिए उचित प्रयत्न न किया । मेरे कहनेका अर्थ, महाशयो, आप यह न समझें कि जैन कौमने कुछ न किया । उद्योग तो अवश्य किया, परन्तु वह उद्योग व्यवस्थित (organised) न होनेके कारण तथा जातिके अधिकांश नेताओंके उसमें उचित भाग न लेनेके कारण सफल न हुआ । मुझे यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि एक दिगंबर सामायिक पत्रके सेठीजीके विचारोंके प्रति विना अवसरके लेखोंने दिगंबर समाजका भाव उनके बहुत कुछ विपरीत

कर दिया। इस पत्रने जान बूझकर अथवा बिना जाने अर्जुनलालजीके मतका खंडन करनेके बहाने हमारे दिगंबरी भाइयोंके मनमें उनके प्रति बहुत कुछ विष भर दिया। एक ऐसी संस्थामें शिक्षा पाये हुए—जो आदर्श शिक्षा देनेका दम भरती है—इस पत्रके संपादकको इतना विचार तक न हुआ कि ऐसे अवसरमें इस प्रकारके लेखोंका बुरा प्रभाव होगा और सेटीजीके प्रति 'करुणा भाव' केवल नामके लिए रह जायगा। परन्तु भाइयो, हमें अब यह विचार करना चाहिए कि सेटीजीको किस प्रकार न्याय मिले। जैन कौम यह नहीं कहती कि पंडित अर्जुनलालजी अपराधी हैं अथवा निरपराधी; वह यही कहती है कि किसी भी व्यक्ति को बिना जाँचके दण्ड देना अन्याय है—किसी भी व्यक्तिको अपना बचाव न्यायालयमें करनेका अवसर न देना अन्याय है। हम सेटीजीके लिए गवर्नमेंटसे दयाकी भिक्षा नहीं माँगते, हम उनके लिए न्यायका दावा करते हैं। ब्रिटिशजातिकी न्यायबुद्धिमें भारतवासियोंका जो विश्वास है वह भारतमें ब्रिटिश शासनका एक आधार है। कोई भी कार्य ऐसा करना कि जिससे यह आधार कमजोर हो जावे अथवा उपयोगिता (Expediency) के निमित्त उस विश्वासकी आहुति दे देना एक प्रकारसे ब्रिटिशराज्यको हानि पहुँचाना है, अतएव हमारे शासकोंको उचित है कि वे शीघ्र ही सेटीजीको न्याय प्राप्त करावें। परन्तु जान पड़ता है कि हमारे शासक इन बातोंकी ओर ज़रा भी ध्यान दिया नहीं चाहते। ऐसी दशामें हमको क्या करना चाहिए? सभायें करना, विरोध-प्रदर्शक सभायें करना, तार देना, प्रार्थनापत्र भेजना—ये काम हमने थोड़े बहुत किये। हमने बड़े लाटकी सेवामें डेप्युटेशन भेजनेकी योजना की थी, पर उन्होंने डेप्युटेशनसे मिलना ही स्वीकृत न किया। तब ऐसी दशामें प्रश्न यह होता है

कि हमको क्या करना चाहिए? इसका संक्षिप्त उत्तर एक ही शब्दमें यह है कि 'आन्दोलन'—नियमबद्ध आंदोलन। इस कथनकी सत्यतामें सन्देह नहीं कि—“आन्दोलन ही इंग्लिस्तानके सामाजिक, राजनैतिक तथा औद्योगिक इतिहासकी आत्मा है। आन्दोलनहीके सहारे अँगरेजोंने अपना अभ्युदय अपनी स्वतंत्रता तथा संसारकी जातियोंमें पहला स्थान इत्यादि बड़े बड़े कार्योंका संपादन किया है।” इसलिए हमें सेटीजीके लिए न्याय दिलानेके अर्थ पुनः आंदोलन करना चाहिए। परन्तु, महाशयो, यह कहा जा सकता है कि ऐसे युद्धके समयमें एक ऐसे विषयके लिए जिसका संबन्ध गवर्नमेंट और देशी रियासतोंके रिश्तेके साथ है आंदोलन करना गवर्नमेंटको आपत्तिकारक (Embarrasing) होगा। तब क्या हमें युद्धका अंत होने तक कुछ न करना चाहिए तथा सेटीजीको कष्ट भोगते हुए अपना लाभकारी जीवन कारावासमें बिताने देना चाहिए? यह कौन कह सकता है कि युद्धका अंत कब होगा। मेरी सम्मतिमें हमको सबसे पहले समय जैन कौमके प्रधान प्रधान नेताओंका, यदि वे स्वीकार करें तो, एक प्रभावशाली डेप्युटेशन पुनः नियुक्त करना चाहिए जो बड़े लाटसाहबकी सेवामें तथा महाराजा जयपुरकी सेवामें उपस्थित होकर सेटीजीके लिए न्यायकी प्रार्थना करे। यदि हमें संतोषदायक उत्तर मिला तो ठीक है, नहीं तो फिर लाचार हमें आंदोलन करना होगा। तब यदि वह आंदोलन गवर्नमेंटको आपत्तिकारक (Embarrasing) हो तो उसके दोषी हम नहीं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि वह आंदोलन मुझे विश्वास है कि नियमबद्ध होगा। सभायें करना, अपसन्नता प्रकट करना, तार देना, प्रार्थनापत्र भेजना इत्यादि काम यदि व्यवस्थापूर्वक तथा प्रबलताके साथ सतत किये जायँ तो मुझे विश्वास है कि सफलता अवश्य प्राप्त होगी।

प्रिय प्रतिनिधिगण, ++ पहले हमें यह निश्चित कर लेना चाहिए कि हमारे उद्योग का—हमारे कार्योंका—आदर्श क्या है। ++ हमारा आदर्श यही है कि जैनधर्मको उसकी आदिम शुद्धता, उदात्तता तथा उपयोगिता प्रदान कर उसे संसारके बड़े बड़े धर्मोंके समान जीवित धर्म बनाना तथा जैनजातिको उसकी वर्तमान अवनत दशासे उठाकर संसारकी बड़ी बड़ी जातियोंकी बराबरीमें बिठलाना। ++ समय नित्य पलटता जा रहा है, नित्य नई दशायें पैदा होती जाती हैं; नवीन आवश्यकताएं प्रतिदिन उत्पन्न होती जा रही हैं—और इन्हें रोकना हमारी शक्तिके बाहर है। हमें एक ऐसी सृष्टिमें रहना है जिसमें नाना प्रकारकी जातियां रहती हैं और जिनकी तरह तरहकी सभ्यताओंके साथ हमें मिलकर रहना पड़ता है। यदि यह कहा जाय कि ऐसी दशामें हमें चाहिए कि अपने पूर्वकालको भूलकर हमें अपनी आवश्यकताओंके अनुसार नवीन संस्थाएं स्थापितकर नये ढंगसे समाजकी रचना करनी चाहिए, तो इसका अर्थ यही होगा कि समाज उत्तर कोई मशीन नहीं है जो अपनी इच्छाके अनुसार चाहे जिस समय चाहे जैसी बना ली जाय। मनुष्य-समाज एक जीवित वस्तुके समान है, और उसके समान विकासके नियमोंके अनुसार ही उसका परिवर्तन हो सकता है। अतएव एकदम नवीन समाजकी रचना करना असंभव है। अतएव महाशयो, हमें दोनों कार्य करने चाहिए—हमें पुनरुत्थान (Revival) भी करना चाहिए और नवीन रचना भी करनी चाहिए, अथवा, दूसरे शब्दोंमें, हमें ' सुधार '—Reform के राजमार्गको ग्रहण करना चाहिए।

प्रिय प्रतिनिधिगण, इस सुधारके कार्यमें हमें दो एक बातोंका अवश्य ध्यान रखना चाहिए। ++ एक तो यह कि जो कुछ पुराना है वह सब ही उत्तम तथा प्रत्येक अवस्थामें लाभदायक नहीं है।

साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जो कुछ पुराना है वह सब ही बुरा भी नहीं है। कई पुरानी वस्तुएं भी बड़े कामकी निकलती हैं। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जो नया है वह सब ही अच्छा नहीं है। पश्चिमकी सामाजिक रीतियोंमें मेरी सम्मतिमें तो अनेकांश हानिकारक हैं। मनुष्यसमाजका सुधार तो पूर्व तथा पश्चिम दोनोंके सामाजिक सिद्धान्तोंकी योजनाहीसे उचित रीतिसे हो सकता है। हमें यह भी न भूल जाना चाहिए कि पश्चिममें अनेक बातें लाभदायक हैं तथा उन्हें ग्रहण करनेके लिए हमें तैयार रहना चाहिए। दूसरी जिस बातका हमें स्मरण रखना चाहिए वह यह है कि जैन जातिकी वर्तमान पतित दशासे निराश हो उससे पृथक् हो स्वयं अपना सुधार करनेका विचार कदापि जीमें न लाना चाहिए। यदि हमें अपनी समाजका सुधार करना है तो उसमें मिलकर ही करना चाहिए। चाहे हमें वास्तविक फल न दिखलाई पड़े तो भी यदि हम अपने भाइयोंके विचारोंमें परिवर्तन कर सकें तो समझना चाहिए कि हमारे कार्यका बड़ा हिस्सा हम संपादित कर चुके। तीसरी बात, महाशयो, जिसका, मेरी सम्मतिमें, हमें सदा ध्यान रखना चाहिए वह यह है कि जाति-उच्चतिके इस महान् कार्यमें हमें सदा ' एकता व उच्चति ' इन दो शब्दोंको सन्मुख रखने चाहिए। हमें समग्र जैनसमाजकी उच्चति करनी है—हमें जैनधर्मका प्रचार करना है। मेरा विश्वास है कि पृथक् पृथक् संप्रदायोंकी उच्चति करनेसे हम समग्र जैन जातिकी उच्चति कर लेंगे, ऐसा समझना भ्रम है। जहांतक मैं जानता हूं इस ऑल इंडिया जैन एसोसिएशन, अथवा यदि यह नाम आपको प्रिय न हो तो— इस भारतजैनमहामंडल—का उद्देश पहलेहीसे सांप्रदायिक भेदको एक ओर रख समग्र जैन जातिकी उच्चति करना, सारे जैनियोंमें एकता

तथा मैत्री भावका प्रचार करना, तथा जैनधर्मका प्रसार करना, रहा है। + + इसमें सन्देह नहीं कि सांप्रदायिकत्व भारतकी एकताका शत्रु है। एकता ही हमारी उन्नतिका महामंत्र है। हमारे सामने इंडियन नेशनल काँग्रेसका उदाहरण विद्यमान है। क्या हिन्दू तथा मुसलमानोंमें जो भेद है उससे श्वेतांबरी व दिगंबरियोंमें ज्यादा भेद है? अथवा क्या श्वेतांबरी या दिगंबरियोंमें और हिंदू अथवा मुसलमानोंमें जो भेद है उससे दिगंबरी श्वेतांबरीयोंमें ज्यादा भेद है? फिर क्यों हम मिलकर कार्य नहीं कर सकते? + +

परन्तु, हमारी भिन्न भिन्न संप्रदायोंमें इस एकता व सदुद्योग स्थापित करनेके हमारे पवित्र कार्यके मार्गमें कुछ कारण ऐसे हैं जो सदा बाधाओंके रूपमें उपस्थित रहते हैं और जिनमें हमारे तीर्थक्षेत्रोंके संबन्धके झगड़े ये एक प्रधान कारण हैं। प्यारे भाइयो, क्या आप इस बातको स्वीकार नहीं करेंगे कि हमारे पवित्र तीर्थक्षेत्रोंके संबन्धमें तीर्थंकर भगवानके हम सब अनुयायियोंको इस प्रकार लड़ते रहना हमारे लिए बहुत भारी लज्जाका कारण है? इन झगड़ोंको लेकर हम न्यायालयोंमें अभियोग उपस्थित कर अपने द्रव्यका तथा अपनी शक्तिका जो नाश करते हैं क्या हमारे समान शांतिप्रिय जातिके लिए यह शोभाका कारण हो सकता है? क्या इन झगड़ोंसे हमारे बीचमें परस्पर वैमनस्य बढ़कर हमारे सार्वजनिक सदाचारको हानि नहीं पहुँचती?

अभियोग या मुकद्दमा लड़नेको व्यक्तियोंका युद्ध जो कहा गया है यह बिलकुल ठीक है। इस प्रकार आपसमें लड़ना, तीर्थक्षेत्रोंके संबन्धमें कल्पित सत्त्वोंका निष्पादन अथवा उनकी रक्षाके करनेके भ्रममें अपनी शक्तिका नाश करना, यह हमारे सम्य होनेमें निश्चयमेव सन्देह पैदा करता है। यदि हम सम्य होनेका दावा रखते हैं तो हमें चाहिए कि

हम अन्य उचित मार्गों द्वारा अपने झगड़ोंका निपटारा करें। महाशायगण, मेरे कथनका अर्थ आप यह कदापि न समझें कि वास्तविक सत्त्वोंकी रक्षा करनेके लिए भी, सत्त्व हकोंका पालन करनेके लिए भी, हमें कुछ न करना चाहिए। अपने उचित सत्त्वोंकी रक्षाके लिए लड़ना में उचित ही नहीं बरन् आवश्यक भी समझता हूँ, परन्तु साथही मेरा यह भी निवेदन है कि सत्त्वसंबन्धी झगड़ोंका निर्णय न्यायालयमें जानेकी अपेक्षा अन्य उपायसे यदि हो सके तो उस उपायसे काम न लेकर एकदम सीधे न्यायालयका मार्ग धारण करना सर्वथा अनुचित है। + + किसी भी संप्रदायका यह उद्योग करना कि दूसरी संप्रदायवाले उसकी अनुमतिसे ही तीर्थराज पर पूजा कर सकें कौमकी उन्नतिका बहुत बड़ा बाधक है, अतएव इस प्रकारके भावोंको दूर कर इस झगड़ेको हमें तय करना चाहिए। हालहीमें नीचेकी अदालतने जो फैसला कर दिया है संभव है कि उसके विपरीत दोनों ओरसे अपीलें की जाँय इसलिए इसी अवसर पर हमें प्रयत्न करना चाहिए कि ऐसा न किया जावे। + + यह जान कर संतोष होता है कि इस प्रकारके प्रयत्नका आरंभ कर दिया गया है। इस प्रयत्नके करनेवालोंको—विशेष कर हमारे प्रसिद्ध धर्मबंधु श्रीयुत वाडीलाल मोतीलाल शाहको—जितना हम धन्यवाद दें कम है, परन्तु ऐसा न करके कुछ सज्जन पुरुषोंने उनका उद्योग निष्फल करनेकी चेष्टा की है, व उन्हें बुरी इच्छासे यह उद्योग करनेका अपवाद लगाया है। श्रीयुत वाडीलालजीने इन अभियोगोंको तय करानेके लिए जो उपाय बताया है संभव है कि हमें वह उचित न जान पड़े, परन्तु अपना मत—भेद प्रकट करनेके लिए यह आवश्यक नहीं था कि उन्हें मिथ्या अपवाद लगाया जाय, तथा उन्हें व उनके सहायकोंके प्रति कुशब्दोंका प्रयोग किया जाय। उन लोगोंके

छोड़कर जिनको इन अभियोगोंसे प्रकट अथवा अपकट रूपसे लाभ पहुँचता हो—क्या कोई यह कहनेको तैयार है कि यदि अन्य किसी उपायसे इन अभियोगोंका अंत किया जासके जो दोनों पक्षवालोंको स्वीकृत हो तो वह हमारे लिए अभि-
नन्दनीय न होगा ? तब फिर क्या यह उचित था कि इसके लिए जो उद्योग किया गया उसका इस प्रकार विरोध किया जाय ? प्रिय प्रतिनिधिगण, क्षमा कीजिए । मेरी सम्मतिमें भी श्रीयुत वाडीलालजीने जो उपाय बताया है वह उचित नहीं जान पड़ता । मेरा अनुभव है कि अभियोग लड़नेवालोंको धर्म व नीतिका उपदेश करनेसे—Councils of perfection देनेसे—वे लड़ना नहीं छोड़ते । मैं यह माननेके लिए तैयार नहीं हूँ कि प्रत्येक दशमें न्यायालयद्वारा निर्णय करानेकी अपेक्षा मध्यस्थों द्वारा निर्णय कराना उत्तम है, और मेरे विचारमें शिखरजी संबन्धी इन अभियोगोंका निर्णय न्याया-
लयद्वारा अथवा मध्यस्थोंद्वारा करानेमें अधिक अंतर नहीं । परन्तु इसका अर्थ आप यह न समझें कि मैं न्यायालयमें प्रिवीकौंसिल तक लड़ते रहनेकी सम्मति दे रहा हूँ । मेरे विचारमें इन अभियो-
गोंका निर्णय करनेका सबसे उत्तम उपाय यह होगा कि इनका आपसहीमें निर्णयद्वारा— Amicable settlement द्वारा—अंत किया जाय । इस प्रकारका निर्णय दोनों बाजुओंकी सम्मतिके साथ होनेके कारण दोनोंको संतोषदायक होगा । इसके लिए यह आवश्यक है कि दोनों ओरकी सम्मति-
योंका परस्परमें परिवर्तन कराया जाय । हमें चाहिए कि हम एक ऐसी प्रभावशाली कमेटी नियुक्त करें जिसके कुछ सभासद दोनों संप्रदायोंके निष्पक्ष व्यक्ति हों तथा विश्वसनीय अन्यमती भी सभासद हों । यह कमेटी दोनों पक्षोंके मुखियाओंके साथ परामर्श करके उनकी सम्मतियां जानकर तस्फियेकी शर्तें निश्चित करावे । यदि ऐसा किया जायगा तो

मेरी समझसे इन झगड़ोंका निपटारा होनेकी बहुत कुछ आशा है ।+X

प्रियबन्धुओ, हमारे लिए सबसे अधिक महत्त्वका प्रश्न जिसकी ओर हमें विशेष ध्यान देना चाहिए वह हमारी संख्याके ह्रासका—हमारी संख्यामें जो प्रतिदिन अधिकाधिक घटी होती जा रही है उसका—है ।++ यह बहुत बड़े खेदका विषय है—दुःखकी बात है—कि गत बीस वर्षोंमें हमारी संख्यामें बहुत बड़ी कमी हुई है । मनुष्यगणनाकी रिपोर्टोंसे विदित हो चुका है कि सन् १८९१ में हमारी संख्या १४,१६,६३८ थी । बादमें यही संख्या घट कर सन् १९०१ में १३,३४,१४० हो गई और सन् १९११ में केवल १२,४८,१८२ रह गई । अर्थात् सन् १८९१ से १९११ तक हमारी संख्यामें अनुमान प्रति सैकड़ा ११ की कमी हुई है; और इस घटीका परिमाण प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है, क्योंकि १९०१ में इस घटीका परिमाण ५८ था, परन्तु सन् १९११ में यह बढ़कर ६४ हो गया । प्रिय महाशयो, इस हिसाबसे यदि हमारी संख्या आगे भी घटती गई तो अनुमान आगामी एक सौ दशवर्षोंमें पृथ्वीपर हमारी कौमका नाम भी न रहने पावेगा । निःसन्देह हमारे लिए यह एक बहुत बड़े दुःखकी बात है कि भारतकी अन्य कौमोंकी संख्यामें तो वृद्धि होती जाय और हमारी संख्याका क्षय होता जाय । सन् १८९१ से १९०१ के दरमियान् बौद्धोंकी संख्यामें ३२.९, ईसाइयोंकी संख्यामें २८, सिक्खोंकी संख्यामें १५.१, मुसलमानोंकी संख्यामें ८.९, और पार-
सियोंकी संख्यामें ४.७, प्रति सैकड़ा वृद्धि हुई है, परन्तु हिन्दुओंमें ३ की व हमारी कौमकी संख्यामें ५.२ प्रति सैकड़ा कमी हुई । सन् १९०१ से सन् १९११ के दरमियान् जैनियोंको छोड़कर सब कौमोंकी संख्यामें वृद्धि हुई । बौद्धोंमें १३,१,

ईसाइयोंमें ३२.६, सिक्खोंमें ६.३३, मुसलमानोंमें ६.७, पारसियोंमें ६.३ तथा हिंदुओंमें १५.०४ प्रति सैकड़ा वृद्धि हुई, परन्तु हम जैनियोंमें पुनः ६.४ की घटती हुई। सन् १८९१ में दश हजार भारतवासियोंमें ४९ जैनी थे; सन् १९०१ में ४५ और सन् १९११ में ४० ही रह गये। इससे स्पष्ट होता है कि यदि हमने अपनी संख्याके इस क्षयके वेगको रोकनेका उद्योग न किया तो शीघ्र ही हमारे अंतका समय आ जायगा। संतोपका विषय है कि इसकी चर्चा तथा इस विषयपर विचार हमारे समाचारपत्रोंमें होनेका आरंभ हो गया है, परन्तु मेरी सम्मतिमें इसकी ओर और भी अधिक ध्यान देनेकी आवश्यकता है। हमको विचार करना चाहिए कि हमारे इस न्हासका कारण क्या है। महाशयो, दो कारणोंसे कौमोंकी संख्यामें वृद्धि अथवा क्षय होता रहता है—अर्थात् एक तो निवासस्थान-परिवर्तन (Migration) और दूसरा मृत्यु और जन्मके परिमाणका मान Relation between birth and death rates)। अब इनमेंसे पहला जो कारण है वह हमारी क्षतिका मूल नहीं होसकता, क्योंकि हमारी कौममें न तो भारतवर्षसे देशान्तरगमन न अन्य देशोंसे इस देशमें आगमन कोई उल्लेखके योग्य हुआ है। दूसरे कारणको जाननेके लिए यद्यपि सरकारी रिपोर्टों (Vital Statistics) से यह नहीं पता लग सकता कि हमारी कौममें मृत्युका परिमाण क्या है तो भी अनुभवसे यह बिना संकोच कहा जा सकता है कि ऐसा अनुमान करनेके लिए कोई कारण नहीं है कि भारतकी अन्य जातियोंकी अपेक्षा जैनियोंमें मृत्युका परिमाण अधिक है, अतएव यदि हमारी क्षतिका कोई कारण हो सकता है तो वह हमारे जन्मके परिमाणकी अल्पता ही होना चाहिए और हमें इस बातका विचार करना चाहिए कि हमारी समाजमें जन्मके परि-

माणकी इस अल्पताका कारण क्या है। महाशय-गण, प्रत्येक जातिमें जन्मका परिमाण चार कारणों पर अवलंबित रहता है—प्रथम Racial characteristics अथवा जातीय लक्षण, दूसरा Social practices अथवा सामाजिक व्यवहार, तीसरा Material well-being अथवा भौतिक ऐश्वर्य और चौथा Public health अथवा सार्वजनिक स्वास्थ्य। अब विचार करनेसे विदित होगा कि हम जैनियोंके जातीय लक्षण, भौतिक ऐश्वर्य तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य अधिकांशमें भारतकी अन्य कौमोंके समान ही हैं—अतएव यह स्पष्ट है कि हमारे अल्पजन्म-परिमाणका कारण हमें हमारे सामाजिक व्यवहारोंहीमें ढूँढना चाहिए, और हमें इस बातका उद्योग करना चाहिए कि जो सामाजिक व्यवहार हमारी संख्याका न्हास कर रहे हैं वे दूर किये जायँ। महाशयो, जहां तक मैं जानता हूँ, हमारी समाजमें इसके संबन्धमें तीन प्रकारकी सम्मतियां दृष्टिगोचर होती हैं। पहली सम्मति यह है कि बालविवाह तथा वृद्धविवाह हमारी इस क्षतिके कारण हैं और इन्हें हमें रोकने चाहिए। दूसरी सम्मति यह जान पड़ती है कि केवल बाल-विवाह आदिको रोकनेसे काम नहीं चलेगा, परन्तु हमारी क्षतिका कारण हमारा जातिभेद, है अतएव हमें उचित है कि साथ ही हम समग्र जैन कौममें सह-भोज तथा परस्परविवाहका प्रचार करें। तीसरी सम्मति यह जान पड़ती है—यद्यपि यह आवाज़ बहुत दब कर निकल रही है—कि केवल इन दो सुधारोंसे काम न चलेगा और यदि हमें अपनी क्षतिको रोकना है तो हमें हमारी कौममें विधवा-विवाहका प्रचार करना चाहिए। एक चौथी सम्मति यह भी सुनाई पड़ती है कि पहले हमें बालविवाहको रोककर देखना चाहिए, और इससे यदि यथेष्ट लाभ न हुआ तो बादमें परस्पर-विवाहका प्रचार करना चाहिए, और उससे भी यदि

वास्तविक लाभ न हो तब हमें विधवाविवाहका प्रचार करना चाहिए । प्रिय प्रतिनिधिगण, मेरी अल्प सम्मतिमें तो इन सब सम्मतियोंमें सत्यका अंश है, परन्तु सर्वथा सत्य इनमेंसे एक भी सम्मति निश्चित रूपसे नहीं कही जासकती, अतएव इन पर विचार करनेकी आवश्यकता है ।

महाशयो, इसमें सन्देह नहीं कि बालविवाह भी हमारी क्षतिका एक कारण है, परन्तु मैं समझता हूँ कि केवल इसीको रोकनेका उद्योग करनेसे हमारा ह्रास न रुकेगा । मनुष्यगणनाकी रिपोर्ट इस कथनकी सत्यता सिद्ध करती है । यदि हम मान लें कि बालकोंका विवाह २० वर्षकी अवस्थाके पहले न होना चाहिए तो रिपोर्टोंसे विदित होता है कि २० वर्षसे कम आयुके विवाहित पुरुषोंकी संख्या सन् १८९१ में प्रति सैकड़ा अनुमान १३, सन् १९०१ में अनुमान १४, तथा सन् १९११ में अनुमान १० थी । इसी प्रकार यदि लड़कियोंके लिए विवाहयोग्य अवस्था १५ वर्षकी मान ली जाय तो इस अवस्थासे कमकी विवाहिता लड़कियोंकी संख्या प्रति सैकड़ा सन् १८९१ में १७ $\frac{३}{४}$, सन् १९०१ में भी १७ $\frac{३}{४}$ और १९११ में १३ $\frac{३}{४}$ थी । इससे सिद्ध होता है कि गत दश एडह वर्षोंमें हमारी कौममें बाल-विवाह कम होते जा रहे हैं, परन्तु तिसपर भी हमारी संख्यामें ह्रास होता जा रहा है, अतएव केवल बालविवाह बंद कर देनेसे हमारी क्षतिका वेग न रुक सकेगा, यह स्पष्ट जान पड़ता है ।

भाइयो, दूसरा कारण जो जातिभेदका बताया जाता है उस पर भी हमें विचार करना चाहिए । हम देखते हैं कि प्रथम तो हमारी कौममें स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंकी संख्या अधिक है, परन्तु इन संख्याओंमें अधिक अन्तर न होनेसे यदि हम उसपर अधिक ध्यान दें तो अनुचित न होगा । अब सन् ११ की मनुष्यगणनाके अनुसार हमारी कौममें

६,४३,५५३, पुरुष थे जिनमेंसे ३,१७,११७ कुआँरे थे । इसी प्रकार ६,०४, ६२९ स्त्रियोंमेंसे १,८१,७०५ स्त्रियाँ कुआँरी थीं । इतने कुआँरे कुआँरियोंका समाजमें विद्यमान होना निःसन्देह हमारे जन्मके अल्पपरिमाणका एक कारण होना हम सबको स्वीकार करना पड़ेगा । कुआँरे कुआँरियोंकी इन संख्याओंमेंसे यदि हम ऐसोंकी संख्या निकाल दें जो संतान पैदा करनेके योग्य साधारण-तया नहीं, अर्थात् जो पुरुष २० वर्षसे कम और ४५ वर्षसे अधिक अवस्थाके हैं तथा वे स्त्रियाँ जो १५ वर्षसे कम तथा ४० वर्षसे अधिक अवस्था की हैं, तौ भी हमें यह देखकर दुःख होना चाहिए, महान् खेद होना चाहिए, कि २० वर्षसे ४५ वर्ष तककी आयुके २,३३,०३५ पुरुषोंमेंसे ५९,९१२ कुआँरे, तथा १५ से ४० वर्षतककी आयुकी २,५३,८५४ स्त्रियोंमेंसे ५,९२८ स्त्रियाँ कुआँरी, अर्थात् प्रति सैकड़ा पुरुषोंमें २५.७ तथा स्त्रियोंमें २.३ कुआँरे कुआँरियाँ हमारी कौममें विद्यमान हैं । महाशयो, विचार कीजिए कि यदि इन ५,९९१२ कुआँरोंके तथा ५,९२८ कुआँरी स्त्रियोंके विवाह हो गये होते तो इनके द्वारा हमारी संख्यामें प्रतिवर्ष कितनी वृद्धि होती । इनके कुआँरे रहनेका कारण भला इसके सिवाय क्या हो सकता है कि हमारी समाजमें अल्पसंख्यक अनेक जातियाँ विद्यमान हैं ? दिग्म्बर जैन डाइरेक्टरीके देखनेसे विदित होता है कि केवल दिग्म्बर संप्रदायमें ४१ जातियाँ ऐसी हैं जिनकी मनुष्य-संख्या ५०० से कम है, १२ जातियोंमें ५०० से १००० तककी मनुष्य संख्या है, १००० से ५००० तक मनुष्यसंख्याकी जातियाँ केवल २० हैं, और जिनकी मनुष्यसंख्या ५००० से अधिक है ऐसी केवल १५ जातियाँ है । कोई कोई जातियोंकी दो, तीन, चार, आठ, सोलह, बीस आदि अल्प मनुष्यसंख्यायें रह गई हैं । मुझे स्मरण

पड़ता है कि मैंने कहीं पढ़ा था कि मनुष्यगण-नाकी सरकारी रिपोर्टके अनुसार हमारी कौममें ५५ जातियोंकी मनुष्यसंख्या १०० से भी कम है, तथा १७ जातियां ऐसी हैं जिनकी मनुष्यसंख्या बराबर घट रही है। गत वर्ष मैंने अपनी जॉगड़ा पोरवाड़ जातिकी एक उपजातिकी मनुष्यगणना कराई थी तो जान पड़ा कि उसमें केवल २७७ पुरुष तथा २९२ स्त्रियां थीं। महाशयो, क्या यह बतानेकी आवश्यकता है कि हमारी कौममें इस प्रकारकी अल्पसंख्यक अनेक जातियोंका होना यह भी इसका कारण है कि हमारे यहां कुआँरे कुँआरियोंकी संख्या इस प्रकार अधिक है, और यदि हमें इनकी संख्या घटानेकी इच्छा है—यदि हम अपनेमें जन्म-परिमाणको बढ़ाया चाहते हैं—यदि हम अपनी संख्याके न्हासको रोकना चाहते हैं—तो हमें इस अनावश्यक, कृत्रिम तथा हानिकारक जातिभेदको उठाकर परस्पर खानपान तथा परस्पर विवाहका प्रचार करनेका उद्योग करना चाहिए। प्रिय बन्धुओ, हमको यह उद्योग अवश्य करना होगा। हमारी कौममें जो जातिभेद है वह परंपरागत व्यवसाय-भेदके ऊपर हिंदुओंके जातिभेदके समान अवलंबित नहीं है, न हमारे यहां जातियोंमें ऊँच नीचका कोई अनुक्रम है। अतएव भारतमें बढ़ती हुई व्यवसाय-नुननेकी स्वतंत्रतासे जातिभेद दूर होनेका जो स्वाभाविक क्रम चल रहा है उसके ऊपर हम अपनी जातियोंको एक करनेका कार्य नहीं छोड़ सकते—हमें इसके लिए मानवी उद्योग करना होगा। महाशयो, अब हमें तीसरी सम्मति पर विचार करना चाहिए। मान लीजिए कि हमने हमारी कौममेंसे जातिभेदको उठा दिया तथा परस्पर-विवाहका प्रचार कर दिया। निःसन्देह इसका परिणाम यह होगा कि हमारी जातिमें संतान—उत्पन्न करने योग्य जो पुरुष कुआँरे हैं उनमेंसे अधिकांश विवाह कर सकेंगे—केवल

अधिकांश ही, सब इसलिए नहीं कि मैंने आपको अभी बतलाया कि १५ से ४० वर्षकी आयुकी कुआँरी स्त्रियोंकी संख्या ५,९२८ है, अतएव यदि इनके साथ २० से ४५ तककी आयुके कुआँरोंका विवाह कर दिया जाय तो भी ५९,९१२ मेंसे केवल ५,९२८ कुआँरे विवाह कर सकेंगे, और ५३,९८४ पुरुष फिर भी कुआँरे रह जायेंगे जो संतान उत्पन्न करनेके योग्य होते हुए भी अविवाहित रहनेके कारण ऐसा नहीं कर सकेंगे। ऐसी अवस्थामें हमें क्या करना चाहिए, इस पर विचार करनेकी कितनी आवश्यकता है उसका, महाशय-गण, आप ही अनुमान करें। इस विचारके लिए हमें एक बात और भी जाननी चाहिए और वह यह है कि हमारी कौममें विधवाओंकी संख्या बहुत ही अधिक है—अन्य कौमोंसे भी अधिक है—तथा अन्य कौमोंमें वह संख्या घटती जा रही है परन्तु हमारी कौममें बढ़ती जा रही है। सन् ११ की मनुष्यगणनाके अनुसार हमारी कौममें ६,०४,६२९ स्त्रियोंमेंसे १,५३,२९७ अर्थात् प्रतिसैकड़ा २५.३ स्त्रियां विधवा हैं—दूसरे शब्दोंमें चार स्त्रियोंमें तीन स्त्रियां सधवा और एक स्त्री विधवा है। बौद्धोंमें सन् ९१ में ११.६, सन् ०१ में ११, तथा सन् ११ में १०.५ प्रति सैकड़ा स्त्रियां विधवा थीं; ईसाइयोंमें सन् ९१ में १२.६, सन् ०१ में १२.६ तथा सन् ११ में ११.८ प्रति सैकड़ा स्त्रियां विधवा थीं; पारसियोंमें सन् ९१ में १३.८, सन् ०१ में १४.२ तथा सन् ११ में १३.५ प्रति सैकड़ा स्त्रियां विधवा थीं; मुसलमानोंमें सन् ९१ में १५, सन् ०१ में १५.१ तथा सन् ११ में १४.६ प्रति सैकड़ा स्त्रियां विधवा थीं; सिक्खोंमें सन् ९१ में १५, सन् ०१ में १३.८ तथा सन् ११ में १५ प्रति सैकड़ा स्त्रियां विधवा थीं; हिन्दुओंमें सन् ९१ में १७, सन् ०१ में १९.३, तथा सन् ११ में १८.७ प्रति सैकड़ा

स्त्रियां विधवा थीं; परन्तु हमारी जैन कौममें सन् ११ में १३.२, सन् ०१ में २३.१ तथा सन् ११ में २५.३ प्रति सैकड़ा स्त्रियां विधवा थीं । सन् १९११ की हमारी विधवाओंकी संख्या जो मैंने आपको बताई उसमें से यदि हम केवल २० से ४० वर्ष तककी ही आयुकी स्त्रियोंका लेखा लगावें तो विदित होता है कि २० से ४० वर्ष तककी आयुकी २,०४,७०५ स्त्रियोंमें से ४८, ४६६ अर्थात् २३.३ प्रति सैकड़ा स्त्रियां विधवा थीं जो यदि सधवा होतीं अथवा हों तो सन्तान उत्पादन कर सकी होतीं या कर सकें । महाशयो, इन्हीं बातोंका विचार कर यह सम्मति दी जा रही है कि हमें विधवाविवाहका प्रचार कर हमारी कौमकी क्षतिके क्रमको रोकना चाहिए । मेरी सम्मतिमें इनके साथ हमें ऐसा मत निश्चित करनेके लिए और भी अनेक बातें हैं जिनपर विचार करना होगा । माना कि यदि हम विधवा विवाहको न रोकें तो २० से ४५ वर्षकी आयुके ५३,९८४ पुरुष जो अविवाहित बच जाते हैं उनके लिए १५ से ३५ वर्षकी आयुकी ३४,४११ विधवायें मिल सकती हैं, परन्तु साथहीमें अन्य बातोंपर विचार करना भी आवश्यक होगा ।

प्रिय प्रतिनिधिगण, हमें स्मरण रखना होगा कि विधवा-विवाहकी चर्चा मात्रके विरुद्ध हमारी कौममें एक प्रबल भाव विद्यमान है । जैन कौम इस विषयकी चर्चा तक करना महापाप समझती है, तथा इस विषयपर विवेचन तक करना हमारी कौमके धार्मिक भावके लिए घृणोत्पादक है । हमारे जैनी भाई इसे महा निन्द्यकर्म मानते हैं तथा ऐसा जान पड़ता है कि किसी भी दशामें उन्हें इसका विचार स्वीकृत न होगा । यद्यपि महाशयो, मैं इस समय इस विषयके गुण दोषोंकी चर्चा नहीं किया चाहता, परन्तु यह कहना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि इसकी चर्चा तकको रोकनेका

प्रयत्न करना कौमके लिए हानिकारक होगा । यदि विधवा-विवाह धर्म तथा नीतिके विरुद्ध और हानिकारक है तो क्या यह आवश्यक नहीं है कि इसकी चर्चा करके यह सिद्ध कर दिया जाय ? क्या इसकी चर्चाको रोकनेका परिणाम यह नहीं होगा कि जिनकी सम्मतिमें यह हानिकारक नहीं है वे उसके पक्षकार रहकर उसके प्रचारका उद्योग करते रहेंगे ? और यदि यह हानिकारक नहीं है न बुरा है, अथवा बुरा होकर भी आवश्यक है, तो क्या इसकी चर्चाको रोकना अपने आपको नुकसान पहुंचाना नहीं है ? मैं तो समझता हूँ कि इस विषयकी चर्चा अवश्य होकर हमें देखना चाहिए कि यह हमारे लिए आवश्यक है या नहीं ।

महाशयो, इस विषयपर जरा दृढ़ होकर हमें विचार करना चाहिए, और केवल अपनी कोमलहृदयताहीसे काम न लेना चाहिए । इससे विवाहका उद्देश भंग होता है—प्रेमका आदर्श मारा जाता है—इत्यादि इसी प्रकारकी अपेक्षाओंसे इसका विचार करना पर्याप्त न होगा; हमें हमारी कौमकी सख्यामें बढ़ती हुई क्षतिकी अपेक्षासे भी इसपर विचार करना होगा । व्यक्ति विशेष इसे भले ही बुरा समझे—हमारी सम्मतिमें स्त्रियोंका तो क्या पुरुषोंका भी स्वेच्छापूर्वक विधवा अथवा विधुर रहना भले ही श्रेष्ठ हो—बलात् वैधव्यको कोई कोई भले ही अच्छा समझते हों—परन्तु हमको जानना होगा कि हमारा जीवन केवल हमारा नहीं है—वह केवल हमारी संपत्ति नहीं है, जिस समाजमें हमने जन्म धारण किया है उसका भी हमारे जीवनपर अधिकार है । जातियोंके जीवनमें ऐसे अवसर भी आते हैं जब उस जातिके मनुष्योंको उसके लाभके लिए—उसकी रक्षाके लिए—अपने व्यक्तिगत सिद्धान्तोंकी बलि देना पड़ती है । जिस जातिके मँबर ऐसा करनेके लिए तत्पर रहते हैं वही जाति सदा जीवित रहती है । संसारका इतिहास यही बात बताता है कि अपनी रक्षाके

लिए—अपने आपको सर्वनाशसे बचानेके लिए—जन समाजोंको अनीप्लित साधनोंका प्रयोग करना पड़ता है। स्पार्टन लोगोंका इतिहास—लाइकरगसके नियम—इस बातकी साक्षी दे रहे हैं। यदि मान लिया जाय कि हमारे लिए केवल दो ही बातें हैं—अर्थात् एक तो हमारी कौमका अंत और दूसरे विधवाविवाहके समान अनीप्लित साधनोंका प्रयोग—तो ऐसी दृशमें हमारा कर्तव्य क्या है, इसका हमें अच्छी तरह विचार करना चाहिए। अतएव यह आवश्यक सिद्ध होता है कि इस विषयकी चर्चाको न रोका जाय। मिथ्यात्वका खंडन करते समय हमारे आचार्योंने मिथ्यात्वकी चर्चा की है तब हमें इसकी चर्चा मात्रमें पाप मानना उचित नहीं। × +

बालविवाह किस प्रकार हमारी जातिके मनुष्य-त्वका नाश कर रहा है उससे शायद ही कोई ऐसा निकले जो परिचित न हो। + ÷ अब भी हमारी कौममें चौदह २ पंद्रह २ वर्षके भीतर ही बालकोंके तथा ग्यारह २ बारह २ वर्षके अंदर ही बालिकाओंके विवाह किये जाते हैं। सन् १९११ की मनुष्य-गणना प्रकट करती है कि हमारी कौममें २० वर्ष तककी अवस्थाके २५,७४३ पुरुष तथा १५ वर्ष तककी अवस्थाकी २७,५५६ स्त्रियोंके विवाह हो चुके थे। निःसन्देह यह दुःखकी बात है, परन्तु यह जानकर और भी हमें दुःख होना चाहिए कि १५ वर्ष तककी आयुकी १,२५९ लड़कियां हमारी कौममें विधवायें थीं जिनमेंसे ९२ विधवायें तो पांच वर्षसे भी कम अवस्था की थीं। भारतकी अन्य कौमोंमें बालविधवाओंकी इतनी संख्या देखनेमें नहीं आती। पंद्रह वर्ष तककी आयुकी प्रति १०,००० स्त्रियोंमें बौद्धोंमें एकसे भी कम, ईसाइयोंमें १२, पारसियोंमें १४, सिक्खोंमें ३०, मुसलमानोंमें ४०, जैनियोंमें ६२ तथा हिन्दुओंमें ६९ विधवायें हैं। इस परसे आप विचार कर सकते हैं कि हमारी समाजमें बालविवाहका कितना प्रचार

है। महाशयो, यह बालविवाह हमारे जीवन रक्तको पीता जा रहा है, हमारे युवकोंके स्वास्थ्यका नाश कर रहा है; विवाहके उद्देशपर पानी फेर रहा है; दाम्पत्य—प्रेमको हवा करता जा रहा है; बालकोंके चरित्रको बिगाड़ रहा है; तथा बिना प्रेमकी संतति उत्पन्न करके समाजको अवनतिके गढ़में लिये जा रहा है। इसी प्रकार वृद्ध पुरुषोंके साथ अल्पवयस्क बालिकाओंका विवाह भी हमारी जातिमें बालविधवाओंकी संख्याकी वृद्धि कर रहा है, तथा समाजमें दुराचारका प्रचार किये जा रहा है। विवाहके अवसरपर नाच करानेकी रीति हमारे युवकोंके चरित्रको बिगाड़ती हुई हमारी कौमकी भावी संतानको सदा अकर्मण्य बनाती जा रही है। विवाह तथा मृत्यु आदि संस्कारोंके समय पंगतों आदिमें व्यर्थ व्यय करना हमारी आर्थिक दृशको खराब करता जा रहा है। अनेक व्यर्थ रीतियां हमारे बहुमूल्य समयका सदा नाश करती जा रही हैं। इन सब कुरीतियोंको बंद करना हमारे लिए बहुतही आवश्यक है। + + कुरीतियोंको बंद करनेकी आवश्यकता तो सब कोई स्वीकार करते हैं, परन्तु अपने मतका पालन करनेवाले व्यवहारमें बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं—यहां तक कि जो स्वयं इन बातोंका उपदेश देते हैं वे भी कार्यका जब समय आता है तब अपने ही मतके विरुद्ध कार्य करते हैं। इसका कारण मनुष्यकी स्वाभाविक प्राचीन-मिथ्याताके सिवाय क्या हो सकता है? मनुष्य सामाजिक जीव होनेके कारण जिस समाजमें रहता है उसकी स्वीकृति, उसकी Sanction, के बिना वह किसी भी रीतिका पालन अथवा उलंघन करना नहीं चाहता। तब यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या जाति-पंचायतों द्वारा हमें जातिसुधारका प्रचार करना चाहिए? महाशयो, मेरी सम्मतिमें इससे भी कुछ लाभ न होगा, बरन् कौममें फूट पैदा होकर लाभके पलटे हानि होगी, क्योंकि हमारी

जाति-पंचायतें इतनी गिरी दशमें हैं कि उन्हें सुधारनेके उद्योगमें जो काल लगेगा तबतकसंभव है कि इनका अस्तित्व ही न रहे। तब क्या हमें निराश होकर सामाजिक-सुधारका कार्य ही छोड़ देना चाहिए, और यदि नहीं तो फिर हमारी आशाका आधार क्या होना चाहिए ? मैं तो यही कहूंगा कि हमें निराश न होना चाहिए, तथा हमारी आशाका आधार होना चाहिए हमारी भावी संतान—हमारे होनहार युवा। महाशयो, यह आशा करना कि जो पुरुष जीवनभर अफीम खाता आया हो वह अफीम खाना वृद्धावस्थामें छोड़ दे यह निरर्थक है; नवीन पौधोंको झुकाना सहज है, परन्तु एक बड़े हुए वृक्षको झुकानेकी आशा करना व्यर्थ है। × × इसीलिए, महाशयो, सामाजिकसुधारकी आशा इन जातिमुखियाओंसे न कर मैं अपनी आगामी पीढ़ीसे करता हूँ। मैं अनुमान करता हूँ कि ऐसे ही विचारोंसे इस महामंडलके संस्थापकोंने इसका नाम आदिमें जैन यंगमेन्स एसोसिएशन रक्खा होगा। यदि हम अपनी संतानको—अपने बालक बालिकाओंको—उचितरीतिसे शिक्षा दें तो मुझे विश्वास है कि ये ही लोग बड़े होनेपर समाजसुधारका प्रचार करेंगे। अतएव इस कार्यके लिए जो उद्योग हम अबतक करते आ रहे हैं उसे जारी रखते हुए अपनी आशाके भावी आधार, अपनी संतानकी उचित शिक्षाकी ओर हमें ध्यान देना चाहिए, और यह मुझे हमारी कौममें शिक्षाकी अवस्थाका स्मरण दिलाता है।

प्रिय प्रतिनिधिगण, हमारे लिए शिक्षाका प्रश्न भी बहुत बड़े महत्त्वका है × ÷ मनुष्य-गणनाकी रिपोर्टोंसे आपको ज्ञात ही होगा कि हमारी कौममें प्रति सहस्रमेंसे सन् १८९१ में ४४१, सन् १९०१ में ४७० तथा सन् १९११ में ४९५ पुरुष पढ़ना लिखना जानते थे, अर्थात् हमारी कौममें प्रतिदिन

अज्ञानकी कमी होती जा रही है। हिन्दुओंमें प्रति सहस्रमेंसे सन् १८९१ में ८३, सन् ०१ में ९४ तथा सन् ११ में १०१, सिक्खोंमें प्रति सहस्रमेंसे सन् ९१ में ८३, सन् ०१ में ९८ तथा सन् ११ में १०६; बौद्धोंमें प्रति सहस्र सन् ९१ में ४११, सन् ०१ में ४०२ तथा सन् ११ में ४०४; पारसियोंमें प्रति सहस्रमेंसे सन् ९१ में ५८३, सन् ०१ में ७५६ तथा सन् ११ में ७८२; मुसलमानोंमें प्रति सहस्रमेंसे सन् ९१ में ५४, सन् ०१ में ६० तथा सन् ११ में ६९; ईसाइयोंमें प्रति सहस्रमेंसे सन् ९१ में २७३, सन् ०१ में २९१ तथा सन् ११ में २९३ पुरुष पढ़ना लिखना जानते थे। इससे स्पष्ट है कि शिक्षाके क्षेत्रमें हम अन्य कौमोंके पीछे नहीं हैं, तथा पारसियोंके पश्चात् हमारा ही नंबर है। इसी प्रकार अँगरेजी पढ़े लिखोंकी संख्या हमारी कौममें भी अन्य कौमोंके मुकाबलेमें ठीक ही है। प्रति दशसहस्रमेंसे अँगरेजी पढ़ना लिखना जाननेवाले पुरुषोंकी संख्या प्रत्येक कौममें इस प्रकार थी:—

	सन् १९०१ में	सन् १९११ में
हिन्दुओंमें- ६४	... ९१
सिक्खोंमें-	... ५२	... ६६
जैनियोंमें-	... १३४	... २०२
बौद्धोंमें- २४	... ४१
पारसियोंमें-	... ४,०७५	... ४,९५६
मुसलमानोंमें-	... ३२	... ५१
ईसाइयोंमें-	... १,२८९	... १,२५६

इससे यह जान पड़ता है कि जैनियोंकी अपेक्षा हिन्दुओंमें शिक्षाका प्रचार कम है। इसका कारण यह है कि हिन्दुओंमें अनेक पिछड़ी हुई जातियां सम्मिलित हैं जो पूर्णतया अशिक्षित हैं, किन्तु आर्यसमाजियोंमें प्रति सहस्र ३९४ पुरुष पढ़े लिखे तथा प्रति दश सहस्र ७१९ पुरुष अँगरेजी पढ़े लिखे और ब्रह्मसमाजियोंमें प्रति सहस्र ७३९ पुरुष पढ़े

लिखे तथा प्रति दशसहस्र ५,८१६ पुरुष अंगरेजी पढ़े लिखे हैं। पढ़ना लिखना तथा अंगरेजी जाननेवाली स्त्रियोंका लेखा इस प्रकार है:—

प्रति सहस्र पढ़ना लिखना जाननेवाली स्त्रियोंकी संख्या:—

	सन् १८९१	सन् १९०१	सन् १९११
हिन्दुओंमें-	३	५	८
सिक्खोंमें-	३	७	१४
जैनियोंमें-	९	१८	४०
बौद्धोंमें-	२२	४२	५८
पारसियोंमें-	३९८	५३८	६३७
मुसलमानोंमें-	२	३	४
ईसाइयोंमें-	९७	१२५	१३५

प्रति दशसहस्र अंग्रेजी पढ़ना लिखना जाननेवाली स्त्रियोंकी संख्या:—

	सन् १९०१	सन् १९११
हिन्दुओंमें-	१	२
सिक्खोंमें-	०	२
जैनियोंमें-	१	३
बौद्धोंमें-	१	२
पारसियोंमें-	९६१	१,७०४
मुसलमानोंमें-	०	१
ईसाइयोंमें-	६१५	६०४

महाशयो, इसपरसे हमारी कौमकी शिक्षासंबंधी दशा संतोषदायक जान पड़ती है, परन्तु हमें जानना चाहिए कि केवल पढ़लिखलेना शिक्षित होना नहीं कहा जासकता। शिक्षाका अर्थ इससे बहुत बड़ा है। खेदकी बात है कि सरकारकी शिक्षासंबंधी रिपोर्टोंमें जैनजाति हिन्दुओंमें सम्मिलित रहती है, अतएव हम यह नहीं जान सकते कि हमारी कौममें उच्च शिक्षा, अथवा माध्यमिक शिक्षा या कमसे कम प्राथमिक शिक्षाकी क्या दशा है, तौ भी अनुभवसे हम यह कह सकते हैं कि हमारी जातिमें उच्च शिक्षितोंकी अथवा माध्यमिक शिक्षा-

प्राप्तोंकी संख्या बहुत ही अल्प है, और स्त्रियोंमें तो इनकी संख्या और भी अल्प होगी। यदि पढ़ना लिखना जाननेवाले पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनोंको मिलाकर देखा जावे तो प्रति सैकड़ा २७ पुरुष स्त्रियाँ लिखना पढ़ना जानते हैं, अर्थात् १०० मेंसे ७३ मनुष्य निरक्षर हैं। इंग्लैंड, जर्मनी तथा जापान आदि देशोंमें पढ़े लिखोंकी संख्या प्रति सैकड़ा ९९, ९८ तथा ९७, इस प्रकारकी है। ऐसी दशामें, महाशयो, आप विचार कीजिए कि जैन जातिमें शिक्षाप्रचारकी कितनी बड़ी आवश्यकता है।

इसीके साथमें हमें यह भी विचार करना चाहिए कि हमारी शिक्षाकी पद्धति कैसी हो। × + प्रथम हमें बालकोंकी प्राथमिक शिक्षाको लेना चाहिए। इस बातको हम सबको मानना पड़ेगा कि सरकारी प्राथमिक पाठशालाओंमें हमारे बालकोंको जो शिक्षा मिलती है वह किसी २ अंशमें हमारे लिए अत्यंत हानिकारक है। उससे होनेवाली हानियोंको देखते हुए हम अपने बालकोंको सरकारी पाठशालाओंके भरोसे नहीं छोड़ सकते। × ÷ परंतु इसके लिए पृथक् पाठशालायें खोलना ठीक नहीं। यह हमारी शक्तिके भी बाहर है। इसके लिए हिसाकरनेसे हमें कमसे कम ४० लाख रुपये आरंभिक व्ययके लिए तथा ३० लाख रुपये वार्षिक व्ययके लिए आवश्यक होंगे। और यदि यह साध्य भी हो तौ भी मेरी सम्मतिमें तो ऐसा करना सर्वांशमें वांछनीय नहीं है। हमारे परम प्रिय सम्राट् महाराजा पंचम जॉर्जने चार वर्ष हुए तब दिछोद-बार्करके समय अपनी यह इच्छा प्रकट की थी कि इस सारे देश भर में पाठशालाओं तथा कॉलेजोंकी जाल फैला दी जाय, यह हम भूले नहीं हैं। महाराजा जॉर्जकी इस इच्छाको किसी अंशमें पूर्ण करनेके अभिप्रायसे भारत गवर्नमेंटने वर्तमान समयमें बालकोंके लिए जो अनुमान एक लाख आरंभिक पाठशालायें हैं उनके सिवा थोड़े ही दिनोंमें

अनुमान ९१००० पाठशालाएं और स्थापित कर प्रारंभिक शिक्षाको फैलानेका निश्चय किया है । यद्यपि युद्धके कारण इस निश्चयके अनुसार कार्य नहीं हो सका है तौ भी हमें विश्वास रखना चाहिए कि गवर्नमेंट अपने कथनके अनुसार अवसर मिलनेपर अवश्य कार्य करेगी । ऐसी दशमें महाशयो, क्या हमारे लिए यह बुद्धिमानीका कार्य होगा कि सरकारकी इन पाठशालाओंसे हम पृथक् रहकर कुछ भी लाभ न उठावें ? हम लोग भी तो सरकारको टेक्स देते हैं । फिर अन्य कौमों तो सरकारकी आयसे Government revenues से शिक्षासंबन्धी लाभ लें और हम अपनेको उससे अलग रखें क्या यह हमारे लिए अनुचित न होगा ? क्या यह श्रेष्ठ न होगा कि हम सरकारसे इस बातकी प्रार्थना करें कि जिन २ बातोंमें इन पाठशालाओंकी शिक्षा हमारे लिए हानिकारक है उन २ बातोंमें उसका सुधार कर उस शिक्षाको अपने उपयुक्त बनावें ? हमारे सुसलमान भाइयोंने इसी नीतिका अवलंबन कर बहुत कुछ सफलता प्राप्त की है, और हम लोग इस नीतिका त्यागकर अपनी पृथक् पाठशालायें स्थापित करते जा रहे हैं । हमें स्मरण रखना चाहिए कि अन्यको कौमोंके समान हमें भी स्वत्त्व है कि गवर्नमेंट हमारे उपयुक्त शिक्षा हमारे बालकोंको देनेका प्रबंध करे ।

महाशयो, हमें इस बातका और भी स्मरण रखना चाहिए कि आजकल सरकारी पाठशालाओंमें जितना पढ़ाया जाता है उतना ही बालकोंकी शक्तिके बाहर होनेसे उसका उनके स्वास्थ्यपर बुरा असर होता है, किन्तु हम लोग धार्मिक शिक्षाके लिए पृथक् पाठशालाएं स्थापित कर बालकोंके सिरपर अन्यासका बोझ डाल उनका स्वास्थ्य और भी खराब करनेकी मानो योजना करते हैं । क्या यह श्रेष्ठ न होगा कि हम गवर्नमेंटसे इस बातकी प्रार्थना करें कि हमारे बालकोंको

धार्मिक शिक्षा सरकारी पाठशालाओंहीमें पठन-कालके भीतर ही देनेका प्रबंध सरकार हमारी सहायतासे करे । यह सच है कि इस विषयमें गवर्नमेंटकी वर्तमान नीति हमारी इस इच्छाके अनुकूल नहीं है । + + धार्मिक शिक्षाके संबन्धमें गवर्नमेंट स्वयं कुछ नहीं किया चाहती, तौ भी मुझे तो आशा है कि यदि हम उचित उद्योग इस बातके लिए करें कि सरकारी पाठशालाओंमें पठन समयके अंदर ही—Within the school hours—हमारी कौमके बालकोंको धार्मिक शिक्षा देनेका प्रबंध करनेके लिए हमें अनुमति दी जाय तो हमारा उद्योग अवश्य सफल होगा । साथहीमें मेरी सम्मतिमें खास २ स्थानोंमें, जहां हमारे बालकोंकी संख्या अधिक हो वहां हमें एडेड प्रारंभिक स्कूलें खोलनी चाहिए जिनके लिए हम गवर्नमेंटसे आर्थिक सहायता भी पा सकते हैं क्यों कि ऐसा करनेकी इच्छा गवर्नमेंटने प्रकट की है । यदि हम इस नीतिका अनुसरण करेंगे तो निश्चयमेव कुन्यवस्थित पृथक् पाठशालायें स्थापित करनेकी अपेक्षा हमको अधिक लाभ होगा । सरकारी शिक्षापद्धतिमें धार्मिक शिक्षाका जो अभाव है मैं समझता हूँ कि उसे हमें इसी नीतिसे दूर करना चाहिए । नैतिक शिक्षाके अभावको दूर करनेका सरकारी प्रयत्न आरंभ है । इस प्रकार सरकारी शिक्षापद्धतिमेंसे हमें अन्यान्य दोषोंको भी दूर करनेका उद्योग करना चाहिए । परन्तु प्रिय-प्रतिनिधिगण, मेरे बताये हुए इस मार्गमें यह आपत्ति की जायगी कि इस प्रकारकी अल्पकालिक धार्मिक शिक्षा कदापि यथेष्ट नहीं हो सकती है, और इसलिए उससे अधिक लाभ न होगा । मैं इस प्रकारकी आपत्ति करनेवालोंसे प्रश्न करता हूँ कि धार्मिक शिक्षाका अर्थ क्या है ? हमारे धर्ममें तो सब ही विषय गर्भित हैं—यथा दर्शनशास्त्र, आत्मविद्या, नीतिविद्या, भूगोलविद्या, न्यायविद्या, इतिहास, नाटक, कथा इत्यादि । क्या हमारे बालकोंको आरंभ

कालहीसे इन सब विद्याओंका अध्ययन करना चाहिए ? अथवा क्या यह आवश्यक है कि प्रत्येक जैनको इन सब विषयोंमें विशारद ही होना चाहिए, और क्या यह संभव है ? क्या प्रत्येक व्यक्तिके लिए उचित विषयका निश्चय करनेमें व्यक्तिगत रुचिकी ओर बिलकुल ध्यान न देना चाहिए ? क्या हमें Jack of all—master of none विद्वान् पैदा करने चाहिए ? महाशयो, आप यह कदापि न समझें कि मैं धार्मिक शिक्षाका विरोधी हूँ, किन्तु मैं यह अवश्य कहूँगा कि धार्मिकशिक्षाके केवल नाम पर ही मोहित होकर हमारे युवकोंको हमें निरर्थक नहीं बनाने चाहिए । इसमें कोई सन्देह नहीं कि लौकिक तथा उदार Secular and liberal शिक्षाने भी संसारको बहुत कुछ लाभ पहुँचाया है । उसमें एक गुण यह है कि वह हृदयको सत्य ग्रहण करनेके योग्य बनाती हुई उसे सत्यके लिए सदा खुला रखती है । स्वामी विवेकानंद तथा रामतीर्थके समान अनेक उदाहरणोंके रहते मैं यह माननेको तैयार नहीं हूँ कि स्कूलों व कालेजोंकी शिक्षा हमें निरे भौतिक-वादी बनाती है । यदि जैनधर्म सत्य है तो उसे कोई भी डर नहीं है । मैंने स्कूलमें सीखा था कि, ' मनुष्य मकान बना सकता है, पर क्या वह पत्थर बना सकता है ? तब पत्थर किसने बनाये ? परमात्माने—परमात्मा इस सृष्टिका कर्ता है । जैनधर्म बौद्धधर्मकी शाखा है, और वह उसीके बाद छठवीं सदीमें निकला । ' मैंने कॉलेजमें बाइबल ही पढ़ी । परन्तु न तो मैं सृष्टिकर्तावादी हूँ न ईसाई होगया हूँ, इसलिए इस बातका बहुत बड़ा भय रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि निरी लौकिक शिक्षा बालकोंको धर्म-भ्रष्ट कर देगी । ' जैनधर्मसे अविरोद्ध ' शिक्षा पर इतना जोर दिया जाता देख मैंने ये विचार प्रगट करनेकी आवश्यकता समझी ।

इसी प्रकार महाशयो, माध्यमिक शिक्षाके लिए भी सरकारी माध्यमिक पाठशालाओंमें हमें अपने

धर्मकी शिक्षाका प्रबंध करनेका तथा कुछ स्थानोंमें हाइ स्कूलोंके खोलनेका उद्योग हमें करना चाहिए । उच्चशिक्षाके लिए कालेजोंके साथम बोर्डिंग हाउस खोलकर हमें धार्मिक शिक्षाकी व्यवस्था करना चाहिए तथा हमारे प्रसिद्ध नेता सेठ मानकचंद हीराचंदके बताये हुए मार्गको हमें न छोड़ना चाहिए परन्तु, महाशयो, इसीके साथमें हमें एक ' सेंट्रल जैन कॉलेज ' खोलनेके लिए भी उद्योग अवश्य करना चाहिए । जैन कॉलेजका प्रश्न एसोसिएशनकी ही आयुका है, परन्तु खेद इस बातका है कि इसकी चर्चा तो हम बराबर करते जाते हैं, परन्तु इसके लिए कार्य हमने अबतक कुछ भी नहीं किया । मेरी सम्मतिमें हमें उचित है कि हम एक कमेटी नियुक्त करें जो इस प्रश्नपर सलाह करके हमें इस बातकी सम्मति दे कि किस स्थानपर हमें यह कॉलेज स्थापित करना चाहिए, इसके प्रबंधके लिए क्या योजना करनी चाहिए तथा इसके लिए द्रव्य कितना तथा किस प्रकारसे हमें एकत्रित करना चाहिए और इसका संबन्ध सरकारी विश्वविद्यालयोंसे रखना चाहिए अथवा यह नवीन हिन्दू विश्वविद्यालयक गर्भित अथवा Constituent कॉलेज होना चाहिए ।

भाइयो, यह जो मैंने निवेदन किया वह साधारण शिक्षाके संबन्धमें है । विशेष—शिक्षाके लिए हमें विशेष संस्थायें स्थापित करनी चाहिए । वह शिक्षा कोई शिक्षा नहीं जो कौमकी आवश्यकताओंको पूर्ण न करे । जैनधर्म जो वैश्योंका धर्म कहा जाता है यह ठीक है क्योंकि हमसेसे अधिक व्यापारी वर्गके हैं । मध्यभारत एजेंसीमें सन् ११ में जैनियोंकी संख्या ८७,४७१ थी, उनमेंसे ६३,२८९ का व्यवसाय व्यापार था । अन्य स्थानोंका हाल मुझे विदित नहीं, परन्तु मैं कह सकता हूँ कि अन्य स्थानोंमें हमारे व्यापार-व्यवसायी भाइयोंका परिमाण और भी अधिक होगा । इसीसे हमें यह सम्मति दी जाती है कि हमारी पाठशालाओंमें केवल धार्मिक

तथा व्यापारिक जैसे मुनीमी इत्यादिकी शिक्षा देनी चाहिए । प्रश्न यह है कि जैनधर्म क्या केवल बनीयोंका—व्यापारी-मुनीमोंका—धर्म रहनेसे संतुष्ट होगा ? वह कौम कौम नहीं जिसमें सब प्रकारके व्यक्ति न हों—व्यापारी, कलाकौशलके जाननेवाले, राज्यकर्ता, कानूनके जाननेवाले, लेखक, कवि, डॉक्टर, न्यायाधीश, सैनिक, धर्मप्रचारक, कृषक, परिश्रम करनेवाले, इत्यादि । क्या पृथक् पाठशालायें खोलकर हम अपनी इस बड़ी आवश्यकताको पूर्ण कर सकते हैं ? महाशयो, निःसन्देह इसके लिए हमें सरकारी विद्यालयोंका सहारा लेना पड़ेगा—हमारे युवकोंको बिदेशोंमें भेजना पड़ेगा । साथहीं हमारे धर्मके प्रचारके लिए हमें अनेक व्यक्ति ऐसे तैयार करने होंगे जो हमारे धर्मके पूर्ण ज्ञाता हों तथा जिन्हें अन्य धर्मोंका—समस्त विद्याओंका—पाश्चात्य साइंस, दर्शन, न्याय, साहित्य तथा इतिहास आदिका—भी पर्याप्त ज्ञान हो । परन्तु मैं अपना यह मत पलटनेकी आवश्यकता नहीं देखता कि इस प्रकारकी अनेक छोटी छोटी संस्थाओंकी अपेक्षा एक विशाल तथा सुव्यवस्थित संस्था अधिक लाभदायक होगी । आप क्षमा करें, मेरी सम्मतिमें काशी, मथुरा तथा मुरैनाके विद्यालय हमारी इस आवश्यकताको पूर्ण नहीं कर सकते, और इसके लिए यदि इन तीनों संस्थाओंको मिलाकर एक विशाल संस्था बनाई जाय तो मैं समझता हूँ कि अधिक लाभ होगा । * *

प्रिय प्रतिनिधिगण, सामाजिक सुधार तथा शिक्षाप्रचारके कार्यके लिए जिस मार्गका अवलंबन करनेकी सम्मति मैंने प्रकट की है उसको धारण करनेके लिए आपको यह स्पष्ट जान पड़ता होगा कि सबसे पहले हमें अपनी कौमको इस बातके लिए तैयार करना होगा कि वह परिवर्तन अथवा change ग्रहण करनेको तत्पर हो । यह बात हमें मानना पड़ेगी कि हमारी जैन जाति अभी परिवर्तनके लिए, भारी परिवर्तनके लिए, तत्पर नहीं है । एक प्रासिद्ध अंगरेज लेखक का यह कथन सर्वथा ठीक है कि—

९-१०

“ प्राकृत प्राचीन—प्रियता यह मानवी हृदयकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है । मनुष्यका स्वभाव परिवर्तनके प्रतिकूल ही होता है, और इसके दो कारण हैं— एक तो अज्ञातका अविश्वास तथा काल्पनिक विवेचनकी अपेक्षा अनुभव पर अधिक अवलंबन और दूसरा मनुष्यका वह स्वभाव जिसके कारण वह अपनी परिस्थितिके अनुकूल अपनेको बना लेता है जिससे अपरिचितकी अपेक्षा परिचित उसे अधिक स्वीकृत तथा सद्ग होता है । ” यद्यपि यह सत्य है तो भी हमें स्मरण रखना चाहिए कि एक जीवित वस्तुके लिए—living organism के लिए—परिवर्तन अपरित्याज्य है । “ प्रत्येक वस्तु सतत परिवर्तनहीसे विद्यमान रहती है, ” यह एक प्राचीन ग्रीकका कथन है । लॉर्ड रोज़बेरीके इस कथनकी सत्यता हमें माननी ही होगी कि, “ The effigies and splendours of tradition are not meant to cramp the energies or the development of a rigorous and various nation. ” क्या यह कहना सत्य नहीं है कि, “ नियम व संस्थायें मनुष्यके लिए हैं, न कि मनुष्य नियम व संस्थाओंके लिए । ” ‘ या तो परिवर्तनया अंत ’ यही प्रकृतिका नियम है ।

“ है बदलता रहता समय उसकी सभी घातें नई, कल काममें आती नहीं हैं आजकी बातें कई ! है सिद्धि-मूल यही कि जब जैसा प्रकृतिका रङ्ग हो— तब ठीक वैसा ही हमारी कार्य-कृतिका ढङ्ग हो ॥ प्राचीन हों कि नवीन छोड़ो रूढ़ियां जो हों बुरी, बनकर विवेकी तुम दिखाओ हंस जैसी चातुरी । प्राचीन बातें ही भली हैं यह विचार अलीक है, जैसी अवस्था हो जहाँ वैसी व्यवस्था ठीक है ॥ ”

अतएव महाशयो, यदि जैनधर्म व जैन कौमको जीवित रहना है, यदि जैनधर्मको हम सब देशोंमें तथा सब प्रकारके लोगोंमें प्रसारित देखना चाहते हैं, यदि हमें अपना अंत स्वीकृत नहीं है तो हमें

केवल अपनी सामाजिक रूढ़ियोंको ही नहीं परन्तु अपने धार्मिक व्यवहारोंमें भी परिवर्तन करनेके लिए तत्पर होना चाहिए। हमारे आचारके नियम सर्वत्र एकसे नहीं हो सकते। यह मैं नहीं कह रहा हूँ कि हमें आचार्योंके सिद्धान्तोंका पालन नहीं करना चाहिए। कहनेका अर्थ यही है कि उन सिद्धान्तोंके भावका—उनके spiritका—न कि उनके अक्षरोंका—हमें पालन करना होगा। धार्मिक सुधारके नामहीसे हमारे जो मित्र बंधाने लगते हैं उन्हें जानना होगा कि आजकल तर्कका ज़माना है। हमें अपने सिद्धान्तोंका अर्थ समयके भावके अनुकूल करना होगा, तभी हमारा धर्म सार्वभौम धर्म हो सकेगा। हमारा सामाजिक संगठनका धार्मिक व्यवहारके साथ दृढ़ संबन्ध होनेके कारण दूसरोंमें परिवर्तन किये बिना हम एक भी सुधार नहीं कर सकते, अतएव, महाशयो, जैसे जैसे समय पलटता जायगा तैसे तैसे हमें अपने धार्मिक व्यवहारोंकी प्रणालीमें भी परिवर्तन करते जाना पड़ेगा। नियमोंका पालन कर सिद्धांतका नाश करना उचित नहीं कहा जासकता। हमें यह न भूलना चाहिए कि धर्मका एक बड़ा उद्देश उपयोग है। वह धर्म नहीं जो मानव समाजको उपयोगी नहीं। जिस समय धर्म समाजको उपयोगी नहीं रहता उसी समय उसका अंत समझना चाहिए। इसलिए धर्मको उपयोगी बनाये रखनेके लिए यह आवश्यक है कि समय समय पर उसके आचार-नियमोंमें परिवर्तन किया जाय—कौमकी रूढ़ियोंका सुधार किया जाय। परन्तु भाइयो, इसीके साथ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस परिवर्तनके कार्यमें हमें सावधानीसे काम लेना चाहिए। सामाजिक रूढ़ियोंके बनमें कई पौधे ऐसे भी हैं जिनकी यदि सम्हाल की जाय तो वे सुगंधित पुष्प पैदा कर सकते हैं; सुधारके आवेगमें हमें इन पौधोंको भी उखाड़ कर न फेंक देंगे चाहिए। कौममें कई रीतियां ऐसी भी हैं जो आवश्यक नहीं तो हानिकारक भी नहीं हैं।

हानिरहित अल्प आमोद प्रमोदके लिए भी कुछ सामग्री हमें अपने भाइयोंके लिए छोड़ देनेमें कोई हर्ज नहीं। इस संबन्धमें यह जान कर किस प्रसन्नता न होगी कि हमारी समाजमेंसे पंडित और बाबू, इत्यादि प्राचीन भेद उठते जा रहे हैं। हमारे विद्वान् पंडितोंके विचारोंमें धीरे धीरे परिवर्तन होता जा रहा है। अँगरेजी पढ़े लिखे युवक भी अब पश्चिमको अपनी उन्नतिका आदर्श मानना तथा पंडितोंकी ओर अनादरकी दृष्टिसे देखना छोड़ते जा रहे हैं। निःसन्देह हमारी उन्नतिके लिए ये सब सुचिह्न हैं, तौ भी, अब भी हमारा भावी कार्य बहुत बड़ा है। हमें मूढविश्वास तथा कुरीतियोंकी चट्टानें तोड़ना है। जैन जातिको उठानेका कार्य हमें कदापि आशरहित न मानना चाहिए। मैं नहीं समझता कि यह हमारे योग्य होगा कि हम निराश होकर जैन कौमके सुधार व उसकी उन्नतिके कार्यको छोड़ दें, तथा अन्य जनसमाजमें जैनधर्मका प्रचार कर उसीके द्वारा जैनधर्मकी उन्नति करनेका उद्योग करें। वर्तमान जैनजाति ही जैनधर्मका प्रसार कर सकेगी यह हमें अवश्य मानना होगा। कोई भी व्यक्ति जैनधर्मको ग्रहण करनेके पहले यही पूछेगा कि जैनधर्मने भारतमें एक जनसमाजका क्या उपकार किया है। कहा जा सकता है कि सुधारकी चर्चा करनेवाले पापका बंध करके अपने लिए नरकका मार्ग बनाते हैं—परन्तु क्या इसका यह उत्तर उचित न होगा कि हमें नरक जाना स्वीकार है, परन्तु कौम तथा धर्मका अंत स्वीकार नहीं? अतएव, इस सुधारके कार्यके लिए हमें परिवर्तित होनेके लिए अवश्य तत्पर होना चाहिए। हम औरोंको जैनी बनानेका उद्योग कर रहे हैं। मैं पूछता हूँ कि क्या हमारी सामाजिक रीतियां तथा हमारे धार्मिक व्यवहारोंकी प्रणालीको परिवर्तित किये बिना हम इस कार्यमें सफलता पा सकते हैं? हम एक ओर तो औरोंको जैनी बनानेका उद्योग करते

हैं तथा दूसरी ओर कहते हैं कि दसोंको जिनपूजा- अधिकार नहीं है। महाशयो, भारतमें धर्म व समा- जका घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य सामाजिक जीव होनेके कारण जनसमाजसे पृथक् नहीं रह सकता। यदि हम औरोंको जैनी बनाना चाहते हैं तो क्या यह आवश्यक नहीं है कि हम उन्हें अपनी समाजमें भी सम्मिलित करें? क्या यह आवश्यक नहीं है कि हम उन्हें भी अपने ही समान धार्मिक अधिकार प्रदान करें? परन्तु क्या आप बतावेंगे कि हमारी कौममें कितने ऐसे जन विद्यमान हैं जो यह कहनेको तैयार हों कि—

“ जो चाहता है अपना कल्याण मित्र करना, जगदेकबंधु जिनकी पूजा पवित्र करना। दिल खोल करके उसको करने दो कोई भी हो, फलते हैं भाव सबके कुल जाति कोई भी हो ॥ ”

क्या हम नवीन जैनियोंके साथ परस्पर सामा- जिक संबन्ध करनेके लिए तैयार हैं? यदि नहीं, तो क्या हमारा औरोंको जैनी बनानेका उद्योग निष्फल न होगा? महाशयो, मेरी सम्मतिमें तो हमें इन सब परिवर्तनोंको ग्रहण करनेके लिए तत्पर होना चाहिए तब ही कौमकी उन्नति व धर्मका प्रचार होगा।

अपने धर्मके प्रचारके लिए जैनशास्त्रोंका प्रकाशित करना यह हमारा एक पवित्र कर्तव्य है। यह प्रसन्नताकी बात है कि हमारा ध्यान इस ओर अधिकाधिक खिंचता जा रहा है—तौ भी कार्यके विस्तारके आगे इसके लिए हमने जो उद्योग अबतक किया है व अब कर रहे हैं वह कुछ भी नहीं है। मेरे परममित्र बाबू जगमंदरलालजीके उद्योगसे जो जैन लिटरेचर सोसायटी लंडनमें स्थापित हुई है उससे बहुत कुछ आशा है, अतएव हमें उसे उचित सहायता प्रदान करनी चाहिए। इस संबन्धमें बाबू जगमंदरलालजीके परिश्रमकी

जितनी सराहना की जाय उतनी ही कम है। स्वयं उन्होंने जो ग्रन्थोंके अनुवाद इत्यादि किये हैं तथा मूल पुस्तकें व लेख लिखे हैं उनसे जिनवाणीके प्रचारमें बहुत बड़ी सहायता मिली है। अन्य सज्जन भी इसी प्रकार उद्योग कर रहे हैं जो प्रशंसनीय है, परन्तु हमें संसारकी प्रायः खास खास भाषाओंमें हमारे शास्त्र तथा जैनमत पर मूल पुस्तकें प्रकाशित करनी होंगी। आराके जैनसिद्धांतभवनको हमें एक वास्तविक सेंट्रल जैन लायब्रेरी व म्यूजियम बनाना होगा। स्कूलों व कॉलेजोंमें पढ़नेवाले हमारे विद्यार्थियोंके लिए हमें स्वतंत्र पुस्तकें लिखकर प्रकट करनी होंगी जिससे कि वे सुगमतासे जैनसिद्धान्तोंका साधारण ज्ञान प्राप्त कर सकें। क्या ही उत्तम हो यदि हम इसके लिए एक ऐसा कोर्स बनानेका उद्योग करें जो आरंभिक पाठशालाओंसे लेकर कॉलेजों तकमें पढ़ाया जा सके।

महाशयो, धार्मिक तथा सामाजिक स्थितिहीके समान हमें अपनी राजनैतिक स्थितिका भी अव- लोचन कर अपनी आवश्यकताओं पर विचार करना चाहिए। मुझे सदा यह शिकायत रहती है कि हमारे भाई सार्वजनिक कार्योंमें बहुत ही कम भाग लेते हैं; इसी कारण हम राजनैतिक क्षेत्रमें भारतकी अन्य कौमोंसे पिछड़े हुए हैं। हमारे कुछ मित्र मेरे इस कथनकी सत्यता स्वीकार नहीं करते। मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि कृपया वे मुझे बतावें कि इस समय हमारी प्रान्तिक कौंसिलोंमें अथवा इंपीरियल कौंसिलके सभासदोंमें जैनी कितने हैं। भारतकी अन्य जातियोंके प्रधान प्रधान नेता इस बातपर विचार कर रहे हैं कि युद्धके बाद भारतकी शासन-प्रणालीमें क्या क्या सुधार किये जावें। क्या आप बतावेंगे कि इनमें कितने जैनी सम्मिलित हैं? इसी शहरमें आजकल भारतकी प्रधान राजनैतिक सभा, 'इंडियन नेशनल काँग्रेस' का अधिवेशन हो रहा है। आप ही बताइए कि

उसके प्रतिनिधियोंमें कितने जैनी हैं ? माना कि म्युनिसिपल कमेटियोंके तथा लोकलबोर्डोंके जैनी भाई सभासद हैं, परन्तु बताइए कि इनकी संख्या कितनी है, तथा इनमें उच्चशिक्षाप्राप्त कितने हैं ? और क्या हमें यहाँतक जाकर ठहर जाना चाहिए ? मेरी सम्मतिमें कदापि नहीं । हमें कौंसिलोंमें प्रवेश करना चाहिए । परन्तु प्रश्न यह होता है कि किस प्रकार यह कार्य किया जाय । हमारे कतिपय भाइयोंकी सम्मति यह जान पड़ती है कि विशेष प्रतिनिधित्व अथवा Special representation के द्वारा हमें भी हमारे मुसलमान भाइयोंके समान कौंसिलोंमें प्रवेश करना चाहिए । महाशयगण, मेरी सम्मति इसके प्रतिबल है । क्या आप कोई ऐसा उदाहरण दे सकते हैं कि कोई भी योग्य जैनी अथवा कोई भी जैनी कौंसिलोंके लिए उम्मेदवार हुआ और वह जैनी होनेके कारण न चुना गया । यदि नहीं तो फिर जनरल इलेक्टोरेटके ऊपर अविश्वास प्रकट कर विशेष प्रतिनिधित्वका सत्त्व माँगनेके लिए हमारे पास क्या कारण है ? मेरी सम्मतिमें हमें कौंसिलोंमें योग्यताके राजद्वारहीसे, न कि विशेष प्रतिनिधित्वके बगलके द्वारसे, प्रवेश करना चाहिए ।

प्यारे प्रतिनिधियों, हमें और भी दो एक कामोंको हाथमें लेना चाहिए । हमारे कुछ त्योहारों पर आम छुट्टी करानेका प्रयत्न मैं समझता हूँ हमारी एसोसिएशनको करना चाहिए, क्या कि इस कार्यमें तीनों संप्रदायके सहोद्योगकी आवश्यकता है । हमारी एसोसिएशनको उपदेशकों द्वारा समाजसुधारके विचारोंका प्रचार करनेका अधिक उद्योग करना चाहिए । हमारे युवकोंको अन्य देशोंमें भेजकर उच्च औद्योगिक तथा साधारण व व्यवसायी शिक्षा दिलानेकी योजना करनी चाहिए । हमारे मंदिरोंके कोषमें बहुत धन पड़ा हुआ है, उसे निकालकर शिक्षा तथा कलाकौशलके प्रचारके लिए

उसका प्रयोग करानेका प्रयत्न हमें करना चाहिए । हमारी सार्वजनिक संस्थाओंका कुप्रबन्ध दूर कराकर उनका प्रबंध सुधारनेका उद्योग भी हमें अवश्य करना चाहिए, क्यों कि सार्वजनिक संस्थाओंका प्रबंध ठीक न होना बहुत हानिकारक है । हमारी एसोसिएशनकी नियमावलीका परिवर्तन कर हमें उसका संगठन ऐसा करना चाहिए जिससे एसोसिएशन तीन दिनकी लेकचरबाजी छोड़कर साल भर तक वास्तविक कार्य करनेके योग्य होजाय ।

प्रिय महाशयो, आपसे, विशेष कर हमारे अँगरेजीदां भाइयोंसे, मैं एक प्रार्थना और करना चाहता हूँ । मैं उनका ध्यान हिंदी भाषाकी ओर—हिंदी साहित्यकी ओर—खींचना चाहता हूँ । मुझे यह देखकर बहुत दुःख होता है कि हमारे अँगरेजी पढ़े लिखे भाई हिन्दीभाषाके प्रचारके कार्यमें उतना उत्साह नहीं दिखलाते जितना कि उन्हें दिखलाना चाहिए । कतिपय सज्जनोंको छोड़कर बाकीके इस कार्यसे प्रेम प्रकट नहीं करते । हिंदी ही जैन जातिकी भाषा है । हिंदीका प्रचार अन्य प्रान्तोंके जैनी भाइयोंमें करनेसे केवल हिंदीहीकी उन्नति न होगी किन्तु हमारी जैन जातिमें एकताका भी प्रचार होगा । अतएव हमें चाहिए कि हम हिंदीसे प्रेम करें, हिंदी भाषामें लेख तथा पुस्तके लिखें, अपने समस्त निजी तथा सार्वजनिक कार्य हिंदी भाषामें करें, और हिंदीके प्रचारके लिए उद्योग करें ।

एसोसिएशनके सभासदगण, इस भाषणको समाप्त करनेके पहले आपसे मैं यह निवेदन करनेकी आज्ञा चाहता हूँ कि जैन कौमकी उन्नति करना तथा जैनधर्मका प्रचार करना यह हमारा एक परम पवित्र कर्तव्य है । जिसने मनुष्य जन्म धारण करके अपने कुल, अपनी जाति, अपने देश, अपने धर्मकी उन्नतिके लिए उद्योग नहीं किया उसने कुछ न किया । मेरे विचारमें जनसमाजकी सेवा करने—मनुष्यजातिका दुःख दूर करने—की अपेक्षा आत्मकल्याणका अच्छा साधन नहीं है । वही सबसे

महापुरुष है जो पाप और दुःखसे लड़ता है, जो दरिद्रता व अपराध पर विजय प्राप्त करता है—जो परोपकार करता हुआ आत्म कल्याण कर निर्वाण प्राप्त करता है। हमारी जाति तथा हमारे धर्मकी ओर हमारी उदासीनता हमारे लिए लज्जाकी बात है। हमें स्वतंत्रताके साथ अपने विचारोंको प्रकट करते हुए जाति तथा धर्मसेवाका कार्य करना चाहिए। यद्यपि हमारी संख्या थोड़ी है और हमारा कार्य महान् है तथापि हमें स्वर्गवासी रानड़के ये शब्द सदा याद रखने चाहिए—अर्थात्, यद्यपि संख्याकी शक्ति हमारे पास नहीं तथापि हमारे उद्देशके लिए हमारे सच्चे कार्यकर्त्ताओंके विश्वासका उत्साह, भक्तिकी एकाग्रता तथा स्वार्थत्याग करनेके लिए तत्परताकी शक्ति हमारे पास है कार्यकर्त्ता चाहे कम हों, परन्तु अंतमें विरोधके ऊपर उन्हें जय अवश्य प्राप्त होगी।” अतएव, महाशयो, हमें अपने उद्योगके फलकी अल्पताको देख निराश नहीं होना चाहिए। यद्यपि हम वास्तविक कार्य अधिक नहीं कर सके हैं तथापि हमारे उत्साही प्रधान—मंत्रीके शब्दोंमें एसोसिएशनके कामका अधिक भाग उन परिवर्तनोंमें है जो उसने हमारी समाजके विचारोंमें पैदा किया है। हमें अपनी कौम तथा धर्मके भाविष्यमें अटल विश्वास रखना चाहिए। यद्यपि इतिहास बताता है कि—

“ संसारमें किसका समय है एकसा रहता सदा, हैं निशि दिवासी घूमती सर्वत्र विपदा संपदा। जो आज राजा बन रहा है रंक कल होता वही। जो आज उत्सवमग्न है कल शोकसे रोता वही ॥ ” परन्तु साथहीमें इतिहास यह भी बताता है कि—

“ होता समुच्चतिके अनंतर सोच अवनतिका नहीं, हाँ सोच तो है जो किसीकी फिर न हो उन्नति कहीं। चिन्ता नहीं जो व्योमविस्तृत चन्द्रिकाका ह्रास हो, चिन्ता तभी है जब न उसका फिर नवीन विकास हो॥”

महाशयो इतिहासका यह उपदेश हमें स्मरण रख अपनी कौम व धर्मकी उन्नतिके लिए सतत उद्योग करना चाहिए।

लड़ना धर्म है या क्षमाभाव रखना ?

(ले०, श्रीयुत वाडीलाल मोतीलाल शाह ।)

सम्पादक महाशय, मुझे आशा है कि आपकी तथा आपके अन्य स्वधर्मी भाइयोंकी ओरसे शीर्षकके प्रश्नका यही उत्तर मिलेगा कि ‘ क्षमाभाव रखना धर्म है ’। क्योंकि शास्त्र हमेशा यही उपदेश देते हैं। कि क्रोध मान माया आदिको जैसे बने तैसे कम करो। आप भी यही कहेंगे कि धर्म तो निरुपद्रवी—किसीको जरा भी चोट न पहुँचावे, किसीको भी और मनसे भी दुःख न पहुँचावे, ऐसा है। परन्तु धर्मकी यह पवित्र व्याख्या करते समय आपका हृदय तो यही कहता होगा कि ‘ निरुपद्रव धर्मकी रक्षाके लिए तो उपद्रवका ही हथियार आवश्यक है।’ अभिप्राय यह कि जो यह मानते हैं कि ‘ धर्म’ स्वयं निरुपद्रव है, वे लोक भी उस धर्मकी रक्षा—अस्तित्वके लिए उपद्रव (क्रोध, द्वेष, कुटिलता, आदि अनिष्ट कार्य) का उपयोग करते हैं। ऐसी दशामें या तो आपको धर्मकी व्याख्या बदलनी पड़ेगी और उसके निर्दोष निरुपद्रव स्वरूपके बदले कोई और ही प्रकारका स्वरूप मानना पड़ेगा, या अपने निरुपद्रव धर्मकी रक्षाके लिए आपलोग जिन उपद्रवी अस्त्र शस्त्रोंको काममें लाते हैं वे फेंक देना पड़ेंगे। दोमेंसे एक अवश्य ही करना पड़ेगा।

आप पूछेंगे कि हम धर्मको निरुपद्रव तो आवश्यक मानते हैं; परन्तु उसकी रक्षाके लिए उपद्रवी अस्त्र शस्त्रोंका उपयोग कहाँ करते हैं ?

महाशय, मुझे माफ कीजिए और कहने दीजिए कि आप उनका उपयोग करते हैं; और केवल आपके ही विषयमें नहीं किन्तु सारे ही

धर्मोंके अनुयायीजनोंके विषयमें भी लगभग यही बात कही जा सकती है । अपने धर्मकी सत्यता दूसरोंसे मनवानेके लिए उन दूसरोंके धर्मोंकी निन्दा करनेके प्रयत्न क्या संसारमें थोड़े हुए हैं ?—इसका कारण यही है कि अपने धर्मका अस्तित्व इसके बिना रह नहीं सकेगा, ऐसा इन प्रत्येक धर्मके लोगोंका हृदय मानता है (मुँह नहीं; मुँह तो शान्तिकी, क्षमाकी दयाकी और नम्रताकी ही बातें किया करता है!) । इसी प्रकार जिस देवको शान्ति, क्षमा, दया आदि सात्विक गुणोंका भण्डार माना जाता है उस देवकी स्थापना जिन मूर्तियोंमें की जाती है उन मूर्तियोंके लिए भी क्या इस दुनियामें थोड़े लोग आपसमें लड़ते झगड़ते दिखलाई देते हैं ?

अब कहिए महाशय, कहाँ तो भगवानको क्षमासागर और क्षमाके उपदेष्टा मानना और कहाँ उन भगवानके नामसे आपसमें लड़ना—झगड़ना—मुकद्दमेवाजी करना । बतलाइए तो सही कि ये दिग्गम्बर और श्वेताम्बरोंके बीचमें, सम्प्रेदशिखर आदि तीर्थस्थानोंसम्बन्धी, लाखों रुपयोंका स्वाहा करनेवाले युद्ध, कैसे और क्यों होने लगे ? क्या धर्म अपनी रक्षाके लिए अपने भक्तोंकी इस प्रकारकी सहायताकी अपेक्षा रखता है ? क्या हमारी—आपकी सहायताके बिना अपने पैरों आप खड़े होनेकी शक्ति हमारे धर्ममें नहीं है ? क्या जब हम सब उसके लिए आपसमें कट मरेंगे और अपना बलिदान कर डालेंगे तभी धर्म टिक सकेगा, और किसी तरह नहीं ?

इम झगड़ोंको देखकर इच्छा होती है कि मैं जैनसमाजकी धर्मविषयक व्याख्याओं, मानताओं और कार्योंकी जाँच करूँ और जाँचके अन्तमें खूब हँसूँ—और खूब रोऊँ । मैंने देखा है कि जिस पातिपत्निके जोड़में आपसमें अनबन रहती नहीं

हैं वे भी एक पुत्रके उत्पन्न हो जानेपर एक दूसरेके गरजू या चाहक बन जाते हैं और इस तरह वह पुत्र इन दो व्यक्तियोंको परस्पर जोड़नेवाला सूत्र बन जाता है । इसी तरह हिन्दू-मुसलमानोंके रितिरिवाज, वेषभूषा, धर्म आदि बातें भिन्न होने पर भी जबसे भारतमें ' भारतीय राष्ट्र'की भावना मूर्तिमान् होने लगी है तबसे मुसलमान भी हिन्दुओंके साथ प्रेमकी संकलसे बँधने लगे हैं—एक दूसरेसे गले मिलने लगे हैं और एक साथ एकप्राण होकर काम करने लगे हैं । मुस्लीमलीगका कांग्रेसके साथ एक मत हो जाना इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है । इन दो भिन्न प्रकृतियोंको भी इतनी निकटवर्तिनी कर देनेवाली, भिन्न बना देनेवाली बात और कोई नहीं, केवल ' भारतीय राष्ट्र 'की भावना—हम "दोनों एक माताके पुत्र हैं यह भावना—ही है; केवल इसीने यह आश्चर्यजनक शक्ति उत्पन्न की है ।

परन्तु यह बात मेरी समझमें नहीं आती है कि जब परस्पर अनबन रखनेवाले दम्पतीको प्रेमसूत्रसे जोड़ देनेवाले पुत्र और भिन्नप्रकृति हिन्दू-मुसलमानोंको भिन्न बनानेवाली ' भारतीयता' की भावना, इन दोनोंसे ही अधिक शक्तिशाली एकताका तत्त्व हमारे समग्र जैनसमाजमें मौजूद है, तब हमारे बीचमें इस एकता—इस प्रेम—इस मेल मिलाप—के बदले पारस्परिक द्वेष और वैर भाव कहाँसे आता हैं । सबके एक ही देव, सबकी एक ही कर्म फिलासफी, सबका एक ही स्याद्वाद, सबकी एक ही दयामय नीति, सबका एक ही देश, सबकी एक ही भाषा, सबके एकहीसे रीतिरिवाज और सबके एकही प्रकारके स्वार्थ—इस तरह प्रायः सभी बातोंमें समानता होने पर भी हममें पारस्परिक एकता नहीं है, इसका क्या कारण है ? मैं आपसे और अन्य विद्वान् सज्जनोंसे पूछता हूँ

कि क्या मनुष्योंमें क्षमा, शान्ति आदि सात्विक गुण उत्पन्न करने और उन गुणोंको पुष्ट करनेके आशयसे ही जैनधर्ममें 'देवपूजा' नहीं मानी गई है? यदि यह सच है तो कृपा करके इस पवित्र आशयको निर्मल निष्कलङ्क रहने दो और इन गुणोंका आरोपण जिनमें किया गया है उन मूर्तियोंके निमित्तसे क्लेश, वैर, क्रोध, आदि तामसिक भावोंको आमंत्रित करनेवाली प्रवृत्तिको रोको—कृपा करके रोको, और किसीके लिए नहीं तो इस आशयकी पवित्रता बनाये रखनेके ही लिए—रोको।

यदि धर्मकी भावना, भिन्न भिन्न स्वभावोंके एकीकरणके लिए, यत्र तत्र एक दूसरेसे डर कर अलग अलग पड़े हुए मनुष्योंको एक 'समाजके' रूपमें संगठित करनेके लिए, एक दूसरेसे डरनेके बदले एक दूसरेके सहायक बनना सिखाने और एक दूसरेके सुख दुःखमें सहानुभूति रखनेकी शिक्षा देनेके लिए आवश्यक है, तो कृपाकरके इस भावनाको, एक दूसरेके विरुद्ध चलाया जानेवाला हथियार मत बनाओ, एक दूसरेको जुदा करनेवाली खाई मत बनाओ, एक दूसरेको शत्रु मानकर असभ्यताके युगके समान अपनी अपनी दो दो बालिस्तोंकी वृक्षकोटरोंमें घुस कर रहनेकी प्रेरणा करनेवाला भयानक साधन मत बनाओ।

क्या आपने 'सब जीवोंको कल्लू शासनरसिक' इस प्रकारकी भावना एक 'शासन' (किंगडम—समाज—राज्य) स्थापित करनेकी इच्छासे नहीं की थी? तब फिर यदि आप अपने 'शासन' से बाह्यके मनुष्योंको अपने शासनके भीतर आकर्षित करके अपना राज्य बलिष्ठ और विस्तृत नहीं बना सकते हैं तो न सही; पर जो आपके 'शासन' में हैं, उनको तो बने रहने दो, उनको तो लड़ा-झगड़ाकर अलग मत कर दो, अ-

लग करनेकी प्रवृत्तिसे तो वाज आओ, कमसे कम इस शासनके स्थापक महागुरु महावीर भगवानके पवित्र नामके लिहाजसे ही इसे छोड़ दो।

सम्पादक महाशय, शायद आप मेरे प्रश्नोंके मारे तंग आ गये होंगे; परन्तु मुझे खेद है कि मैं आपको अब भी छुट्टी नहीं दे सकता। तंग आगये? नहीं, इस बातको मैं नहीं मान सकता कि आप मेरे प्रश्नोंके मारे तंग आगये होंगे। अपने भाइयोंके साथ तो आप वर्षों तक लड़ते रहनेपर भी तंग न आये और मेरे दो चार प्रश्नोंसे ही तंग आ गये? यदि आप इतने भले होते कि ऐसे मौकोंपर तंग आजाते—ऊब उठते, तो सचमुच ही बहुत अच्छा होता। जो हृदय आपसी लड़ाइयोंसे कठिन पत्थर बन गये हैं वे प्रश्नोंके दो चार बाणोंसे कभी नहीं छिद सकते। इधर मुझे भी आपकी चलती हुई लड़ाइयाँ देख देखकर बाण चलानेका स्वप्न सबार हो गया है और इससे मैं अभी कुछ और भी प्रश्नबाण छोड़नेके लालचको नहीं रोक सकता।

मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या आप इन मुकद्दमोंमें 'व्यवहार धर्म' की रक्षाके लिए देश-हितकी बलि नहीं दे रहे हैं? क्या आप 'व्यवहार धर्म' की रक्षाके लिए समाजबलकी हत्या नहीं कर रहे हैं? क्या आप 'व्यवहार धर्म' की रक्षा के लिए सदाचारके गले पर छुरी नहीं चला रहे हैं? और क्या आप "निश्चय" को लक्ष्यबिन्दु मानकर 'व्यवहार' की पालना करनी चाहिए," इस शास्त्राज्ञाका दुरुपयोग नहीं कर रहे हैं?

क्या आप इस धर्मात्मापनके दिखानेमें ही धर्मात्मापनकी अनुपास्थितिको सिद्ध नहीं करते हैं? क्या आप अपनी बलिष्ठता दिखलानेके लिए किये जानेवाले इन युद्धों द्वारा ही अपनी धार्मिक निर्बलताको प्रकट नहीं कर रहे हैं?

कृपाकरके थोड़ी देरके लिए इस दुखिया और अभागे भारतवर्षकी ओर देखो। आपके शास्त्रोंमें जिस आर्यदेशको अध्यात्मज्ञानका भाण्डार, लक्ष्मीदेवीका निवास, क्षात्रतेजकी जन्मभूमि, पृथ्वी जल और आकाश पर विजय प्राप्त करनेवाली विद्याओंका जनक और स्वतन्त्रता देवीका क्रीडास्थल बतलाया है, उस देशकी—उस आर्यावर्तकी—वर्तमान दशाका वर्णन क्या आपने कभी श्रीमान् दादाभाई नौरोजी या श्रीमती एनी बीसेंटके मुखसे या कलमसे निकला हुआ सुना या बाँचा है? इसकी दिलको दहला देनेवाली भयंकर दरिद्रता, दुर्बलता, बीमारी, बुद्धिमन्दता, जडता, सत्वहीनता, उत्पादक शक्तियों और उत्पादक साधनोंका क्षय, आदि बातोंको क्या आप देख नहीं सकते हैं? करोड़ों मनुष्यों पर चढ़े हुए इन भयंकर भूतोंको दूर करनेके लिए देशके कितने ही 'देवों' ने जो महान् प्रयत्न करना शुरू किया है, उससे क्या आप सर्वथा ही अज्ञात हैं? भारत माताको फिरसे सुजला सुफला सुखसम्पन्ना बनानेके लिए ये 'देवगण' जी तोड़ परिश्रम कर रहे हैं, उसमें शामिल होनेके लिए आपको, मुझे और सबको पुकार रहे हैं, तो भी क्या आप उस पुकारकी ओर बहरे कान किये रहेंगे? वे पुकार पुकार कर कह रहे हैं कि अपने प्यारे देशकी दशा सुधारनेके लिए सबसे पहले ऐक्यकी आवश्यकता है और फिर इस ऐक्यबलसे हमें निरुद्योगिता और अज्ञानताको इस देशसे निकाल कर अलग कर देना है। हाय! इन देवोंकी अपील—प्रार्थना—सुननेके लिए तो आप अभी तक भी तैयार नहीं हुए हैं और पूजनविधिके एक तुच्छ भेदके कारण लड़ने झगड़नेके लिए कमर कसे हुए हैं, मिथ्यात्वकी विचित्र व्याख्याओंके अनुसार अपने-

को छोड़ कर सारे देशको मिथ्याती मानकर उनसे दूर रहनेका उपदेश दे रहे हैं और समग्र देशके सुखदुखकी बातोंको जुदा रख कर रातदिन एक शाखाकी, नहीं नहीं उस शाखाकी भी शाखा—प्रशाखा—की ही बातोंमें मस्त हो रहे हैं; ऐसी दशामें बतलाइए, भारतमाताके उद्धारकी चिन्ता करनेवाले उक्त देवगण आपके विषयमें क्या सोचेंगे।

इस बातको तो आप स्वीकार करते हैं कि पूजन व्यवहार धर्म है, निश्चय धर्म नहीं है। तो भी किसी एक प्रकारकी पूजाके लिए, उससे विभिन्न प्रकारकी पूजा करनेवालोंके साथ लड़नेमें आप अपने बहुमूल्य समयका और देशको विज्ञानादिमें आगे बढ़ानेके लिए जिसकी आवश्यकता है उस लक्ष्मीका व्यय कर रहे हैं। पूजन करो, आनन्द और उत्साहसे आप अपनी ही पद्धतिके अनुसार पूजा करो और उस पूजनमेंसे पूज्य देवका बल, ज्ञान और चारित्र सम्पादन करके बलवान् बनो; परन्तु पूजापद्धतिको पारस्परिक बलका बलिदान करानेवाला तत्त्व मत बनाओ, यही मेरी प्रार्थना है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनोंकी पूजनपद्धति बनी रहे और दोनों अपनी अपनी पद्धतिसे अपने इष्ट देवकी पूजा कर सकें, क्या इस प्रकारका प्रबन्ध आप सारे पवित्र तीर्थक्षेत्रों पर नहीं कर सकते हैं? किसी स्थलपर दोनों एक ही मन्दिरमें पूजनपाठ करें, किसी स्थलपर दोनोंके लिए अलग अलग मन्दिरोंकी व्यवस्था कर दी जाय और किसी स्थलपर कोई और प्रबन्ध दोनों सम्प्रदायकी सलाहसे कर लिया जाय, इस तरह क्या आपसमें विश्वास प्रेम और ऐक्य उत्पन्न नहीं किया जा सकता? यदि आप इसके लिए इस प्रकारका कोई अच्छा निरुपद्रव मार्ग तजवीज नहीं कर सकते हैं तो क्या इसका अर्थ यह नहीं

होता है कि जिस देशको, इस समय एकताकी सबसे अधिक आवश्यकता है उस देशके हितकी हत्या करके ही आपके दोनों सम्प्रदाय अपने अपने व्यवहार-धर्मकी रक्षा करना चाहते हैं ? और आपके इस वर्तावसे क्या प्रचालित नीति या सदाचारका भङ्ग नहीं होता है ? आपमेंसे बहुतोंको सच्चे झूठे प्रमाण खड़े करने पड़ते होंगे, दूसरे अनेक अन्याय करने पड़ते होंगे, धर्मके नामसे झगड़े-का काम करनेके लिए चन्दा करनेका पाप कमाना पड़ता होगा, एक दूसरेके अमंगलकी भावना करनी पड़ती होगी और उससे जैनधर्मकी नीवतुल्य चार भावनाओंकी हत्या होती होगी; ये सब बातें क्या नीति, धर्म, समाज, नेशन आदिके लिए बाधक नहीं हैं ?

जिस समय यूरोपका महायुद्ध शुरू हुआ था उस समय, मुझे स्मरण है कि आपमेंसे बहुतोंने सभायें करके भगवानसे इस प्रकारकी प्रार्थनायें की थीं कि यह युद्ध बन्द हो जाय और पुनः शान्तिका प्रसार हो। जिसके संचालक सूत्रों तक किसी तरह हमारा हाथ ही नहीं पहुँच सकता है उस दूरके युद्धकी शान्तिकी इच्छा करनेके लिए तो आप एकत्र हुए; परन्तु मुझे नहीं मालूम है कि आप लोगोंने अपने इस घरू युद्धकी आग बुझानेके लिए एक दिन भी एकत्रित होकर प्रार्थना की हो, या आपसमें मिलकर सलाह ही की हो। मालूम नहीं आपका यह कैसा व्यवहार है और कैसी आपके धर्मकी व्याख्या है। या तो यह स्वीकार कीजिए कि युद्ध अच्छा कार्य है, इससे शक्तियोंका विकास होता है और युद्ध करनेके लिए जिस बलकी आवश्यकता है उसका सम्पादन कीजिए, या युद्ध बुरा है, पाप है, यह मानकर उससे दूर रहिए। यदि आप ऐसा नहीं करते हैं, दूसरोंके युद्धको पाप मान कर अपने युद्धको पुण्य समझते हैं तो आपकी

इस मानताको 'मनमानी घरजानी' के सिवाय और क्या कह सकते हैं ?

बाल्यविवाहादिसे हमारा बल घट गया है, यह बात रोज ही गला फाड़ फाड़ कर कही जाती है; परन्तु जब तक कन्या-व्यवहारका क्षेत्र विस्तृत न होगा तब तक बाल्यविवाह, बे-मेल-विवाह, कन्याविक्रय आदि अधर्म कदापि दूर नहीं हो सकते। कन्याव्यवहारका क्षेत्र बढ़ानेमें जातियोंके सैकड़ों भेद उप-भेद सबसे बड़े बाधक हैं। जबतक समग्र जैन-समाज अपने अपने क्रियाकाण्डोंको-आचार विचारोंको पालते रहने पर भी दूसरोंके क्रिया-काण्डों तथा आचार विचारोंके प्रति सहिष्णुता रखनेवाला न बनेगा और परस्पर प्रेमभाव, ऐक्य, कन्याव्यवहार और कोआपरेशन न बढ़ायगा, तब तक सामाजिक कुरीतियाँ, निर्बलता और अज्ञानता आदि दोष कदापि दूर न हो सकेंगे। जब तक मूल बना हुआ है तब तक शाखा प्रशाखाओंके नाश होनेकी आशा रखना व्यर्थ है। समाजबलका सारा आधार एकता पर है और यह एकता दिग्म्बर श्वेताम्बरके 'निश्चय' धर्मको तो सर्वथा ही बाधक नहीं है, रहा 'व्यवहार' सो उसमें भी यदि पर-मतसहिष्णुता रखना सिखाया जाय, तो एकता बाधक नहीं हो सकती।

सम्पादक महाशय, ये सारी दलीलें, प्रश्न और सूचनायें केवल आपके प्रति या श्वेताम्बर समाजके प्रति ही नहीं हैं; किन्तु समग्र जैनसमाजके प्रति हैं। इन सबका तात्पर्य केवल इतना ही है कि इस समय पवित्र जैनधर्मकी कीर्तिके लिए, जैनसमाजके बलके लिए और भारतके हितके लिए जैनोंके तमाम झगड़े मिटाकर एकताका बल बढ़ानेकी ओर सबसे अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। इस समय इस प्रार्थनाके

आग्रहपूर्वक करनेका कारण यह है कि मैंने जो दिगम्बर श्वेताम्बरोंके तीर्थक्षेत्रसम्बन्धी झगड़े आपसमें तय करनेका मिशन खड़ा किया है, उसे मैं समग्र जैनसमाजके सम्मुख रखना चाहता हूँ। इसका सबसे अच्छा मार्ग तो यह है कि किसीको भी बीचमें डाले बिना वादी प्रतिवादी और उनके सधर्माभाई स्वयं ही आपसमें मिलकर प्रयत्न करें; परन्तु ऐसा होना कठिन जान पड़ता है इस लिए मेरी सूचना यह है कि देशके माननीय और कायदे कानूनोंके ज्ञाता अगुओंमेंसे एक या इससे अधिक अगुए दोनों ओरसे पसन्द कर लिये जायँ और उनसे न्याय करा लिया जाय।

मेरे इस आन्दोलनके प्रति श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों ही पक्षके बड़े बड़े धनवानों और उच्चश्रेणीकी शिक्षा पाये हुए विद्वानोंने सम्मतियाँ देकर, प्रसन्नता प्रकट करके और सहियाँ देकर सहानुभूति प्रकट की है जिसके लिए मैं उक्त सब सज्जनोंका आभार मानता हूँ और अन्य धनियों तथा शिक्षितोंसे प्रार्थना करता हूँ कि वे भी अपनी सम्मतियाँ भेजनेकी कृपा करें। इस प्रकारके विचारोंको फैलानेके लिए हजारों व्यक्तियोंकी सम्मतियाँ चाहिए।

केवल सहियाँ लेकर बैठ रहना मुझे पसन्द नहीं है, दोनों पक्षके अगुओं तथा मुकद्दमोंमें आर्थिक सहायता देनेवाले सज्जनोंसे प्राइवेट मिलने और उनको यह बात समझानेका प्रयत्न भी जारी है। इस काममें मुझे जो सफलतायें प्राप्त हुई हैं उनकी मुझे कल्पना भी न थी; परन्तु अभी उनके प्रकाशित करनेका समय नहीं आया है। इसका परिणाम चाहे जो हो, मुझे चिन्ता नहीं है। आन्दोलन सफल हुआ तो ठीक ही है, नहीं तो निष्फलतामें भी इतना लाभ तो हुए बिना रहेगा ही नहीं कि किसी न किसी अंशमें लोकमत तैयार होगा,

एकताके विचार फैलेंगे और उनका अच्छा परिणाम कभी न कभी अवश्य होगा। यदि निष्फलता होगी तो इसका अर्थ यही होगा कि हमारे शिक्षित समुदायने इस आवश्यक देशहित और समाजहितके काममें अपना पूरापूरा बल नहीं लगाया, इसीसे सफलता नहीं हुई। इसमें 'आन्दोलन' का दोष नहीं है और 'अन्दोलन उठानेवाले' का भी अपराध नहीं है; परन्तु 'आन्दोलन' के लिए आवश्यक बल लगानेवाले लोग अपने कर्तव्यपालनसे विमुख रहे, यही दोष लोगोंकी दृष्टिके आगे आयगा और तब आगेके प्रत्येक आन्दोलनमें अधिक दूरदर्शिता और अधिक एकतासे काम करनेकी रीतिको लोग सीखेंगे।

अन्तिम प्रार्थना।

अन्य आवश्यक उपाय तो जो कुछ बन सकते हैं, किये ही जा रहे हैं, परन्तु इसके साथ लोकमत तैयार करनेकी भी आवश्यकता है, इस लिए प्रत्येक स्थानके अगुओं तथा शिक्षित सज्जनोंसे मेरा प्रार्थना है कि:

- १ आप अपनी निजकी सम्मति पत्रद्वारा मुझे लिख भेजनेकी कृपा करें,
- २ आप अपने अपने ग्राम और नगरोंमें अपने सम्प्रदायकी सभायें करके उनमें यह प्रस्ताव पास करें कि ये तीर्थोंके झगड़े आपसमें तय किये जायँ और उस प्रस्तावकी नकल मेरे पास भेज दें,
- ३ जैनपत्रोंमें तथा अन्य पत्रोंमें इस आन्दोलनको पुष्ट करनेवाले लेखादि लिखनेकी भी कृपा करें।

समस्त जैनसंघमें सहिष्णुता, भ्रातृभाव, ऐक्यबल, ज्ञानबल और शौर्य उत्पन्न हो और इन गुणोंसे सुशोभित जैनशासन सारी दुनिया पर जयवन्त हो, यही मेरी अन्तिम इच्छा है।*

* यह लेख 'श्वेताम्बर जैनकान्फरेंस हेरल्ड' से अनुवाद करके प्रकाशित किया जाता है।

स्याद्वादमहाविद्यालयकी भीतरी दशा ।

[ले० श्रीयुत प्रोफेसर निहालकरणजी सेठी एम्. एस् सी., काशी ।]

जैनहितैषीके पाठकगण ' सार्वजनिक धनकी जिम्मेवारी ' शीर्षक लेख सितम्बर अक्टूबरके अंकमें पढ़ चुके हैं । उसके पढ़नेसे उन्हें ज्ञात हो गया होगा कि जैनसमाजमें सार्वजनिक संस्थाओंके कार्यकर्ताओंको इस विषयके महत्त्वका कितना ज्ञान है और कितने संचालक अपनी इस बहुत बड़ी जिम्मेवारीको समझते हैं । कुछ साधारण रीतिसे उन्हें यह भी मालूम हो गया होगा कि ऐसी संस्थाओंके प्रबंधमें अवश्य कुछ गड़बड़ी है और अभी बहुत कुछ उन्नति करनेकी आवश्यकता भी है । किन्तु उन्हें अभी यह पता न हुआ होगा कि यह अंधेर यहाँतक बढ़ गया है कि समाज यदि वह अपना हित चाहता है और अपने गाढ़े पसीनेकी कमाईके द्रव्यका वास्तविक सदुपयोग करना अत्यन्त आवश्यक समझता है तो अब चुप नहीं बैठ सकता । अब ऐसा समय आगया है जब केवल यह सोचकर संतोष नहीं हो सकता कि अमुक संस्था तो अमुक सज्जनके हाथमें है उसमें गड़बड़ी नहीं हो सकती । संभव है कि बिना उन सज्जनके दोषके ही, उनकी अत्यधिक सज्जनताके कारण ही संस्थाकी दशा शोचनीय हो रही हो । इसके अतिरिक्त एक और बात ध्यान देने योग्य है । यह आवश्यक नहीं है कि कोई महाशय संस्थाका द्रव्य हड़प जायँ अथवा वह किसी ऊपरी टीम टामके कार्यमें ही बहुतसा द्रव्य व्यय कर दें । इन बातोंके बिना भी समाजका धन व्यर्थ जा सकता है, इनके होते हुए भी संचालक-

गण सार्वजनिक धनके दुरुपयोगके लिए दोषी हो सकते हैं । आज ऐसी ही एक कथा सुनानेको मैं बाध्य हुआ हूँ ।

आप बाध्य होनेका कारण पूछ सकते हैं । आप कह सकते हैं कि ऐसी कथा सुनानेमें क्या कष्ट था जो बिना बाध्य हुए सुना देनेकी आवश्यकता न समझी गई । इसका संक्षिप्त उत्तर केवल यही है कि संचालकोंको इस बातका डर था कि कहीं इस कुप्रबंधकी कथा समाजको मालूम हो जायगी तो समाज शायद इसके लिए चन्दा आदि देनेमें संकोच करने लगे । वे जानते थे कि प्रबंध उचित नहीं है, किन्तु उनका विश्वास था कि इस कुप्रबंधसे समाजकी इतनी हानि नहीं जितनी कि संस्थाके लिए द्रव्य न मिलनेसे होगी । इस कारण उनका प्रयत्न यह रहता था कि समाजके सम्मुख कोई इस रहस्यको प्रगट न करे । और मैं समझता हूँ कि यह विचार किसी अंशमें ठीक भी था । किन्तु सौभाग्यसे या दुर्भाग्यसे मुझे हालहीमें इस विद्यालयको स्वयं देखनेका अवसर मिला । बहुत दिन तक मैं इसकी दशाका यथार्थ स्वरूप जाननेका प्रयत्न करता रहा और इसके संचालकोंसे प्रार्थना भी करता रहा कि इसकी दशा शोचनीय है, इसका उचित प्रबंध होना चाहिए । किन्तु जब देखा कि वे लोग इस दशाको कुछ बुरी दशा नहीं समझते और इसके सुधारकी ओर उनका लक्ष्य भी नहीं है, तब मुझे समाजको यह सब कथा सुनानेके लिए प्रस्तुत होना पड़ा ।

कदाचित् कोई मेरे आशयके समझनेमें भूल करे, इस विचारसे मैं आरम्भमें ही यह कह देना उचित समझता हूँ कि यह मैं जानता हूँ और मानता भी हूँ कि काशीके स्याद्वाद महाविद्यालयके स्थापित होनेके पहिले जैनसमाजमें जैनधर्मके अमूल्य शास्त्र-रत्नोंका अर्थ समझने और समझा सकनेवाले मनुष्योंकी बहुत ही कमी थी और इस संस्थाने इस कमीको यत्किंचित् दूर भी किया है; पर समाजको इससे अन्य भी कोई लाभ हुआ है यह अवश्य ही विवादग्रस्त बात है। किन्तु यदि यह संस्था अपना यही कार्य उचित रीतिसे करती रहे तो भी हमें बहुत हर्ष होगा। परन्तु अब इस कार्यमें भी बहुत कुछ गड़बड़ी हो रही है।

शायद समाजको यह ज्ञात होगा कि यहाँके विद्यार्थियोंमें हड़ताल कर देनेका, पढ़ना बन्द कर देनेका, एक अपूर्व गुण है। इस गुणका प्रकाश समाजने बहुधा देखा होगा। यदि न देखा हो तो उसमें न विद्यार्थियोंका दोष है और न उनके गुणका। दोष है केवल संचालकोंका कि जिन्होंने उनके इस गुणको छुपा रखनेका प्रयत्न किया है। किन्तु जिन लोगोंको इस संस्थाके समाचार जाननेका थोड़ा बहुत शौक होगा उन्हें अवश्य ज्ञात हुआ होगा कि आज विद्यार्थियोंने अमुक अधिष्ठाताको निकलवा दिया, आज अमुक सुपरिण्टेंडेंट साहबको अपना बदना बोरिया सम्हाल कर चले जाना पड़ा। यहाँतक कि यदि मुझे ठीक ज्ञात हुआ है तो अब तक इस विद्यालयमें प्रायः बीससे ऊपर सुपरिण्टेंडेंट काम कर चुके हैं। और अधिष्ठाताओंकी संख्या भी जितनी समाजको मालूम है उससे कहीं अधिक हो चुकी है।

प्रश्न हो सकता है कि यह गुण विद्यार्थियोंमें क्यों कर पैदा हुआ? संस्कृत पढ़नेवाले विद्यार्थी

जिनकी गुरुके प्रति बहुत ही अधिक श्रद्धा प्रसिद्ध है, जो गुरुकी चरणसेवा करना ही अपना परम कर्तव्य सदासे मानते चले आये हैं उनमें यह अनादरका भाव, यह स्वच्छन्दता कहाँसे उत्पन्न हो गई? इसका वास्तविक कारण क्या है यह मैं आगे चलकर बतलाऊँगा और वह आप लोगोंको स्वयं भी जरा विचार कर लेने पर ज्ञात हो जायगा। यहाँ पर यह बात अवश्य कहूँगा कि संचालकगण भी इसके उत्तरदायित्वसे मुक्त नहीं हो सकते। क्यों कि उन्होंने अवश्य ही विद्यार्थियोंकी इच्छानुसार कार्य करके, जिसको उन्होंने निकलवाना चाहा उसे निकाल करके, जिसको नियत करना चाहा उसे नियत करके और विद्यार्थियोंकी खुशामद करके, उन्हें उत्तेजित किया है। यह लिखते समय मैंने यह अवश्य ध्यानमें रक्खा है कि विद्यार्थियोंका ऐसा व्यवहार कदापि उचित नहीं था। उन्होंने कभी ऐसी बातकी प्रार्थना नहीं की जो वास्तवमें आवश्यक थी, किन्तु द्वेषभावसे अथवा अन्य किसी कारणहीसे उन्होंने ऐसा किया था। यह जो महाशय चाहें मालूम कर सकते हैं।

जब मैं विद्यालयमें गया (शायद ४-५ अक्टूबरको) तब देखा कि फिर वही रंग है। पाठ बंद है, सब अध्यापकोंकी रिपोर्ट है कि विद्यार्थियोंने पढ़नेसे इन्कार किया है। जब ऐसा दृश्य देखा तो स्वाभाविक था कि चित्तको कष्ट पहुँचता। किन्तु किससे क्या कहा जाता? अधिष्ठातासे? वे तो कभी यहाँ रहते ही नहीं। उप-अधिष्ठातासे? उनका भी बनारसमें कोई पता नहीं। मंत्रीजिसी? वे तो स्वयं छुट्टीका अवसर देख कर जौनपुरसे दो दिनके लिए यहाँ आये थे और खुद परेशान थे कि क्या किया किया। क्यों कि उन्होंने विद्यार्थियोंसे बहुत कुछ कहा सुना था किन्तु विद्यार्थीगण उनकी

बात तो क्या सुनते उनका अनादर करनेको उद्यत थे। क्या सभापतिसे कुछ कहता? उनके विषयमें तो सुना कि वे कभी पत्रका उत्तर भी देना उचित नहीं समझते। सुपरिंटेंडेंटसे? वाह, उनहीके विरुद्ध तो सारा प्रयत्न था, उनकी कौन सुन सकता था। जब अधिष्ठाता यहाँ नहीं रहते, उपाधिष्ठाता यहाँ नहीं रहते, मंत्रीजी भी परदेशी हैं, सभापतिको पत्रका उत्तर देनेका भी अवकाश नहीं होता तब आप समझ सकते हैं, कि इस सबमें आश्चर्यकी बात ही क्या थी।

खैर, मंत्री महाशयने जिस तिस प्रकार प्रबंध-कारिणी सभाके स्थानीय सभासदोंको एकत्रित किया और उनसे प्रार्थना की कि ऐसी दशा है, इसका उचित प्रबंध हो जाना चाहिए। किन्तु भला ऐसे कार्यका उत्तरदायित्व अपने सिर कौन ले? यह निश्चय हुआ कि इसके कारणोंकी जाँच की जाय और सभापति महाशय श्रीमान् सेठ हुक-मचंदजीसे तार द्वारा अनुमति ली जाय। कुछ सभासदोंने जाकर पृष्ठतालु की तो ज्ञात हुआ कि मुख्य कारण यह है कि धर्माध्यापक महाशयकी मंत्रीजी और सुपरिंटेंडेंट महाशयसे नहीं बनती। वे चाहते हैं कि उक्त दोनों महाशय पृथक् हो जायँ। यह बात सभा पहिलेसे जानती थी और मंत्रीजीका बहुत कुछ अपमान करनेके कारण धर्माध्यापक पं० उमरावासिंहजीको सभा पहले ही एक मासके लिए पृथक् कर चुकी थी। अब ज्ञात हुआ कि उक्त पांडितजीने ही विद्यार्थियोंको बहकाकर पाठ बंद करवा दिया है। विद्यार्थियोंसे पूछने पर उनका उत्तर केवल यही था कि सुपरिंटेंडेंट महाशय—जो साहित्यके अध्यापक भी हैं—साहित्य ठीक नहीं पढ़ा सकते, अतः जब तक उनके स्थान पर कोई अन्य महाशय नियत न किये जावेंगे वे पढ़ना उचित नहीं समझते। किन्तु पांडित उमरावासिंहजीने

(यद्यपि सब सभासदोंके समक्ष नहीं) स्वीकार किया कि उन्होंने विद्यार्थियोंसे ऐसा करनेको कहा था और उसका कारण उन्होंने यह बतलाया कि जबसे ये मंत्री महाशय नियत हुए हैं विद्यालयकी दशा बहुत खराब हो गई है और जबतक इस प्रकार पाठ बंद न किया जायगा तब तक इसके कार्यकर्ता इस ओर ध्यान न देंगे। पर उन्होंने प्रबन्धकारिणी सभाकी बैठकमें कहा कि यह बात मिथ्या है और मुझपर विद्यालयको हानि पहुँचानेकी नीयतसे यह झूठा दोष लगाया गया है। यह देख मुझे गवाह पेश करना पड़े और उन्हें चुप हो जाना पड़ा।

मैं यहाँपर यह विवेचना नहीं करना चाहता कि मंत्री महाशयने विद्यालयको लाभ पहुँचाया या हानि; किन्तु मैं समाजका ध्यान केवल इस बातकी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि इस बातमें उस वास्तविक कारणका पता लगता है कि जिसके कारण विद्यार्थी इतने उद्धत और स्वच्छन्द हो गये हैं।

स्थानीय सभासदोंको इतना ज्ञात हो जाने पर भी वे कुछ कर नहीं सकते थे। करते भी कैसे? उनको कोई अधिकार ही नहीं था। सभापति होता, अधिष्ठाता होता, उपाधिष्ठाता होता तो शायद कुछ करता भी। २८ अक्टूबरको सभा करना निश्चय हुआ और बाहरके सभासदोंके पास सूचना भेजी गई। उस दिन सभा हुई और बाहरसे तीन सज्जन आये भी। सौभाग्यसे अधिष्ठाता महाशय भी पधारे। सब वृत्तान्त सुनाया गया; किन्तु सबको यह विश्वास हो जाने पर भी कि धर्माध्यापक महाशयका यह कार्य विद्यालयको बहुत हानि पहुँचानेवाला हुआ है और उनको इसके लिए दंड भी मिलना चाहिए, यह उचित नहीं समझा गया कि उनसे कुछ कहा जाय। क्योंकि अन्य

धर्माध्यापक मिलना जरा कठिन कार्य है। किन्तु यह अवश्य हो गया कि धर्माध्यापक और सुपरिन्टेन्डेन्ट महाशयके नहीं बनती है, इस लिए सुपरिन्टेन्डेन्ट महाशय १०-१५ दिनमें पृथक् कर दिये जायँ। १०-१५ दिनमें भी इस लिए कि शायद अभी ऐसा करनेसे विद्यार्थी समझेंगे कि हमारी जय हुई। अधिष्ठाता महाशयने कुपा कर दो महीने यहीं ठहर जाना स्वीकार किया।

अब देखना यह है कि प्रायः २५ दिन विद्यालयमें पढ़ाई बंद रही। छात्राश्रममें भोजन जो विद्यार्थियोंको पढ़नेके लिए मुफ्त दिया जाता है बराबर दिया गया। भोजनके व्यतिरिक्त अन्य खर्च भी बराबर होता रहा। इन सबके अतिरिक्त जो हाथखर्चके लिए विद्यार्थियोंको मासिक मिलता है उसमें भी किसी प्रकारकी हानि नहीं हुई। विद्यार्थियोंको अपराधका इसके अतिरिक्त कुछ डंड न मिला कि एक मासके लिए उनके भोजनके घीकी मात्रा कुछ कम कर दी गई। उनको बहकानेवाले पंडितजीका भी कुछ न बिगड़ा।

विद्यालयमें माय ५००-६०० रु० मासिक व्यय होता है, जिसमें अध्यापकोंका वेतन तो केवल १५०) से कममें ही हो जाता है। मकानके लिए कोई व्यय नहीं करना पड़ता। प्रायः ४००) मासिक भोजन आदिमें व्यय होता है और केवल २७-२८ विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। शिक्षा कैसे मिलती है और ये विद्यार्थी यहाँसे पंडित बनकर समाजका कितना उपकार करेंगे यह उपर्युक्त कथासे प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त जिस विद्यालयमें यह भी ठीक ठीक नहीं मालूम कि कौन विद्यार्थी कब किस अध्यापकके पास उपस्थित था और कब नहीं, जहाँ हाजिरीके रजिस्टर भी दूँद निकालनेके लिए परिश्रम और धमकियोंकी आवश्यकता होती है, जहाँके दफ्त-

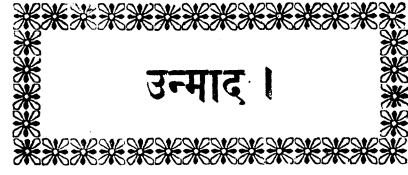
रसे प्रबंधकारिणी सभाकी कार्यवाहीकी पुस्तक भी गुम कर देनेमें विद्यालयमें रहनेवालोंको संकोच नहीं होता, जहाँके आचार्य बननेवाले विद्यार्थी जरा जरासे भोजनके घीके वास्ते लड़नेको प्रस्तुत हो जाते हैं और जहाँके छात्रों और अध्यापकोंको संदिग्ध आचरणके कारण दंड देनेकी भी आवश्यकता पड़ जाती है, वहाँके निकले हुए पंडितोंका चरित्र क्या उच्च होसकता है? क्या वे धर्मोपदेशके अधिकारी हो सकते हैं? क्या उनसे समाजको लाभ पहुँच सकता है? क्या उन लोगोंके लिए समाजको ५००-६०० रु० मासिक व्यय करना उचित है? क्या उनके लिए शिक्षा ही बिना फीस नहीं किन्तु भोजन, वस्त्र, मकान इत्यादि भी देना और उस पर ४०० रु०मासिक केवल २७-२८ विद्यार्थियों पर खर्च करना समाजके सार्वजनिक धनका सदुपयोग करना है? इस पर भी क्या उन्हें हाथ खर्चके लिए रुपया देना सामाजिक धनका अपव्यय नहीं है?

मैं यह नहीं कहता कि संस्था बंद कर दी जाय, अथवा समाज इसमें चंदा न दे। मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि समाजको अधिकार ही नहीं उसका यह कर्तव्य भी है कि वह देखे कि जो रुपया वह संस्थाको देती है उसका सदुपयोग होता भी है या नहीं। वह पूछ सकती है कि क्यों विद्यालयमें कोई अधिष्ठाता भी नहीं रहता? क्यों उपाधिष्ठाता भी विद्यालयमें रहकर विद्यार्थियोंकी दशा सुधारनेका प्रयत्न नहीं करता? क्यों प्रबंधकारिणी सभा व्यक्ति विशेषके हानिलाभ पर दृष्टि रखकर विद्यालयका उचित प्रबंध नहीं करती? क्यों धार्मिक संस्थामें भी आचरण सुधारनेका प्रयत्न नहीं होता? क्यों विद्यार्थियोंको हाथ खर्चके लिए रुपया देकर विलासी और उद्धत बनाया जाता है? क्यों संचालकगण समाजसे ऐसी ऐसी बातें छुपाया

करते हैं ? २५ दिन विद्यालयमें हड़ताल रहे और जैनसमाजके कान तक उसकी भनक भी न पहुँचे, क्या यही संचालकोंकी जिम्मेवारी है ? क्या किसीको समाजके इतने दृव्यके अपव्ययकी कुछ चिन्ता है ?

किन्तु केवल पूछकर भी चुपचाप बैठ जाना ठीक न होगा । यदि उचित प्रबंध न हो सके तो समाजको अपनी ओरसे उचित प्रबंध करना होगा । ऐसा करनेमें किसी व्यक्तिविशेषके हानि लाभका विचार सर्वथा दूर कर देना होगा । जबतक समाज ऐसा करनेके लिए तैयार नहीं होगी तबतक समझना होगा कि स्वयं समाज भी अपने हानि लाभको नहीं समझती । क्या ऐसे चरित्रके पंडितोंको तैय्यार करा कर समाज अपने पैरमें आप कुल्हाड़ी नहीं मारती ? क्या स्वयं अपनी उन्नतिके पथमें कंटक नहीं खड़े करती ?

अंतमें मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि यदि कुछ कठोर शब्दोंका प्रयोग किया गया है तो संचालकगण मुझे क्षमा करें । क्योंकि मैं उन्हें विश्वास दिलाता हूँ कि जो कुछ लिखा गया है वह केवल समाजका ध्यान आकर्षित करनेके लिए सत्य सत्य लिखा गया है । मेरा किसीसे द्वेष भाव नहीं है । यह हो सकता है कि विद्यालयसम्बन्धी उपर्युक्त बातें उन्हें या अन्य किसी सज्जनको कुछ बुरी न जान पड़ें, उन्हें विद्यालयमें कोई दोष न दिखाई दे; किन्तु मुझे विश्वास है कि समाज अभी ऐसे मनुष्योंसे सर्वथा शून्य नहीं हो गया है जो किसी बातपर स्वतंत्रतासे विचार कर सकें । ऐसे महाशयोंको अवश्य मानना पड़ेगा कि ये सब बहुत ही बुरी बातें हैं और मुझे दृढ़ विश्वास है कि वे शीघ्र ही अपना स्वर ऊँचा करके समाजको जगा देंगे और ऐसी बड़ी संस्थाका सुधार करनेको बाध्य करेंगे ।



उन्माद ।

(ले०, श्रीयुत बाबु पदुमलाल बक्षी बी. ए.,)

हरिनाथ बाबू खूब निपुण डाक्टर थे । अपने व्यवसायमें उन्हें यथेष्ट सफलता हुई थी । लोगोंको उन पर बड़ा विश्वास होगया था । तो भी लोग उनसे संतुष्ट नहीं थे । कुछ तो उन्हें नर-पिशाच तक कहते थे । इसमें संदेह नहीं, हरिनाथ बाबूमें थोड़ी भी दया नहीं थी । चाहे कोई कैसी भी दशामें हो, विना फीस लिये डाक्टर बाबू जाते नहीं थे । कितने ही असमर्थ गृहस्थ उनके पास गये पर सबको हताश होकर लौट आना पड़ा । उनसे पहले कोई भी दवा नहीं कराता था । पर जब रोग अन्य डाक्टर और वैद्योंके लिए असाध्य हो जाता था तब हताश होकर लोग उन्हें ही बुलवाते थे । हरिनाथ बाबूके हाथमें केस आते ही असाध्य रोग भी साध्य हो जाते थे । इसलिए नर-पिशाच होकर भी हरिनाथ बाबूको कामका अभाव न था ।

एक बार मुझे भी उनके पास जाना पड़ा । मिनीका ज्वर खूब बढ़ गया था । किसीकी चिकित्सासे कुछ लाभ नहीं हुआ । तब हरिनाथ बाबू आये । न जाने उनमें ऐसी कौनसी शक्ति थी कि थोड़े ही दिनोंमें मिनी अच्छी होगई । ५००) के नोट लेकर मैं उनसे अपनी कृतज्ञता प्रगट करनेके लिए गया । कार्ड भेज देनेपर हरिनाथ बाबू स्वयं आकर मुझे अपने कमरेमें ले गये । जब हम लोग बैठ गये तब मैंने ५००) के नोट निकाल कर कहा, “डाक्टर बाबू, आपने हम लोगोंको आजीवनके लिये अपने उपकार पाशसे

बद्ध कर लिया है। हम लोग आपको दे क्या सकते हैं। पर हम जन्मभर आपका उपकार मानते रहेंगे।” हरिनाथ बाबू नोट लेकर कुछ देर चुप रहे। मैंने देखा, उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये थे। मैं सोचने लगा ‘आज इस नृशंसमें कोमलता कैसी!’ इतनेमें हरिनाथ-बाबूने कहा:—

“विनोदबाबू मैंने उपकार नहीं किया है। मैं उपकार करता भी नहीं हूँ। मैंने जो कुछ किया सब इन नोटोंके लिए। आपको आश्चर्य होता होगा। इतनी सम्पत्ति रहने पर भी मैं धन-संचय कर रहा हूँ। मेरी न तो कोई संतान है, न कोई बन्धु बान्धव ही है। मैं अकेला हूँ। मैं जानता हूँ यह मेरी वृद्धावस्था है। मैं जानता हूँ, मेरा मृत्युकाल सन्निकट है। धनसे मुझे कुछ लाभ नहीं है। तो भी मैं धनसंचय करूँगा, मृत्यु-काल तक संचय करता रहूँगा।”

यह कहते कहते हरिनाथ बाबू खड़े हो गये। उनका शरीर काँपने लगा। उनकी यह दशा देख मैं डर गया। उन्हें शान्त करनेके लिए मैं कुछ कहना ही चाहता था कि हरिनाथ बाबू फिर कहने लगे, “विनोदबाबू मुझे शान्ति नहीं चाहिए। हृदयकी इस विषमज्वालाको लेकर मैं हो मरूँगा। आज ३५ वर्षसे मैं यह ज्वाला हृदयमें रख रहा हूँ। बाबू मैं जानता हूँ आप लोग मुझे कैसा समझते हैं, पर मैंने जैसा कुछ अनुभव किया उसे मैं ही जानता हूँ। विनोद बाबू, आज तुम्हारी बातोंसे मुझे उस घटनाका स्मरण हो आया है जिसे इस धन-तृष्णाकी प्रबलज्वालामें पड़कर मैं भूल जाना चाहता था। मैं तुमसे अपनी जीवन-कथा कह देता हूँ। विनोद बाबू, तब तुम जान सकोगे मैं ऐसा नर-पिशाच क्यों हो गया।

“आज ४५ वर्ष हो गये मैं बी. एस सी. पास कर घर लौटा था। मेरा घर हरिपुरमें था। घरमें विधवा माता और वर्षभरकी बहिन थी। पिताकी मृत्यु बहिनके जन्म होते ही हो गई थी, इस लिए मैंने अपनी बहिनका नाम अभागिनी रखवा था। पिताकी मृत्यु हो जानेपर हम लोग वर्षभर बड़ी तकलीफमें रहें। माताके अनुरोधसे मुझे कालेज जाना पड़ा और दासीकी वृत्ति स्वीकार कर माता गाँवमें रही। दो चार लड़कोंको पढ़ा कर मैं अपना खर्च निकाल लेता था। घरके लिए भी जो कुछ बचा करता भेज देता। इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत कर मैं घर लौटा। उस समय माताकी दशा देखकर मुझे बड़ी वेदना हुई। गाँवमें कई लोग ऐसे थे जो यदि चाहते तो हमें सहायता दे सकते थे। पर किसीने कुछ नहीं किया। मेरे आनेपर माताको बड़ी प्रसन्नता हुई थी। मैं भी भविष्य सुखका स्वप्न देखने लगा था। इतनेमें मेरी माताको बुखार आने लगा। वर्षा-काल आ गया था। घर खूब टूट फूट गया था। एक कमरेको छोड़ दूसरा कमरा भी नहीं था। वह भी ऐसा नहीं था कि उसमें मेरी ज्वरसे पीड़ित माता रह सके। मैंने पड़ोसके लोगोंसे एक कमरा देनेके लिए बड़ी प्रार्थना की। पर किसीने मेरी प्रार्थना नहीं सुनी। उन्हें विश्वास हो गया था कि मेरी माताको प्लेग हो गया है। एक दिन माताकी पीड़ा खूब बढ़ गई। मैंने पासके गाँवसे एक डाक्टर बुलानका विचार किया। पर कोई भी जानेके लिए उद्यत नहीं हुआ। मैं स्वयं जानेके लिए प्रस्तुत हुआ, पर माता और अभागिनीको किसके आश्रयमें छोड़ूँ? मैंने एकसे कहा, ‘भाई घरमें स्थान भलेही मत दो; पर हमारे घर जाकर मेरी माताके पास दो घंटेके लिए बैठे रहो। मैं तब तक डाक्टरको बुला लेता हूँ।’ पर वह प्लेगके भयसे नहीं

आया । तब मैं जगदीश्वरका नाम ले अभागिनीको माताकी गोदमें छोड़कर दौड़ता हुआ डाक्टरके यहाँ गया । डाक्टर बाबू घरमें विश्राम कर रहे थे । अपने विश्राममें बाधा होते देख क्रुद्ध हो उठे । उन्होंने चिल्ला कर कहा, 'निकाल बाहर करो ।' मैं हताश होकर लौट आया । घर आने पर देखा कि अभागिनी मृतमाताकी गोदमें सो रही है ।”

डाक्टर हरिनाथ मित्र आगे कह नहीं सके, कुछ देरतक चुपचाप बैठे रहे । थोड़ी देरके बाद हृदयके उद्वेगको रोक कर फिर कहने लगे— “विनोद बाबू, अधिक क्या कहूँ, किसी प्रकार, माताका अंतिम संस्कार कर मैं कलकत्ते चला आया । मातृ-पितृ-हीन अभागिनीको हृदयसे लगाकर मैंने कुछ दिनोंतक उसकी ज्वाला शान्त की । ढूँढ़ने पर मुझे ५०) का एक ट्यूशन भी मिल गया । मैंने डाक्टर होना निश्चय कर कालेजमें नाम लिखा लिया । ५ वर्षके अविराम परिश्रमसे मैं डाक्टर हुआ । तब तक अभागिनी ६ वर्षकी हो गई । तब मैं कुछ निश्चिन्त हो गया ।

“मुझे अपने व्यवसायमें सफलता होने लगी । संसारमें कुछ नाम कर जानेकी इच्छासे मैं खूब परिश्रम किया करता था । अपने उद्योगमें संलग्न होनेके कारण मैं कुछ ही दिनोंमें अभागिनीकी ओर कम ध्यान देने लगा । एक दिन मुझे विज्ञान-परिषद्की ओरसे निमंत्रण मिला । मुझे उक्त विद्वान्मण्डलीने क्षयरोग पर व्याख्यान देनेके लिए कहा था । नाम करनेका ऐसा सुअवसर पाकर मैं खूब आनन्दित हुआ । घर आकर मैं अपने व्याख्यानका विषय देखनेमें लग गया । देखते देखते मुझे एक नवीन बात सूझी । मैं अपने आविष्कारसे अक्षय्य कीर्ति सम्पादन करनेकी इच्छाके वशीभूत हो उसकी परीक्षा करने लगा । इतनेमें अभागिनीने आकर कहा,

११-१२

‘भैय्या’ । मैंने रुष्ट होकर कहा, ‘जा, जा, मैं अभी अपने काममें लगा हूँ।’ भैय्यासे अपमानित होकर अभागिनी अपने कमरेमें चली गई । रात भर मैं अपने आविष्कारमें लगा रहा, मुझे अपनी अभागिनीकी सुधि नहीं थी ।

“दूसरे दिन मैं शीघ्र भोजन कर विना अभागिनीको देखे विज्ञानपरिषद्-भवनमें अपने अपूर्व आविष्कार पर व्याख्यान देनेके लिए चला गया । कहना नहीं होगा, मेरे उक्त आविष्कारसे सर्वत्र मेरा नाम फैल गया । संसारके प्रतिष्ठित विद्वानोंमें मेरी गणना होने लगी । बड़े बड़े डाक्टरोंने आकर मुझे बधाई दी । अनेक लोगोंसे मुझे निमंत्रण मिला । मैं उल्लास-पूर्ण हृदयसे घर लौटा । घर आते ही दासीने कहा ‘अभागिनीको आज दिनभरसे खूब ज्वर है।’ मेरा हृदय काँप उठा । मैं शीघ्रतासे अभागिनीके कमरेमें आया । उसे सुधि नहीं थी । मैंने तुरन्त ही उसे गोदमें उठा लिया । देखा, उसका सब शरीर ज्वर-तापसे जल रहा था । मैंने विदीर्ण-हृदयसे पुकारा, ‘अभागिनी !’ अभागिनीने आँसु खोल कर कहा, ‘भैय्या, पानी ।’ मैंने तुरन्त ही उसे पानी दिया । पानी पीकर अभागिनी कहने लगी, ‘भैय्या, मुझे छोड़कर मत जाओ । मुझे डर लगता है ।’ मैंने रोकर कहा ‘अभागिनी बहिन, मैं अब तुझे छोड़कर कभी नहीं जाऊँगा ।’

“मैं रातभर अभागिनीकी चिकित्सा करता रहा, पर कुछ लाभ नहीं हुआ । उसकी दशा खराब ही होती गई । अन्तमें उषःकालके समय, जब समस्त पृथ्वीमें आलोक फैल रहा था, अभागिनीने मुझे सदाके लिए अन्धकारमें डालकर प्राण त्याग दिये । मैं उसके मृत देहको गोदमें लिये बैठा रह गया । लोक-सेवाका फल मुझे मिल गया ।

“विनोद बाबू, अब आपका अधिक समय नहीं लूँगा । अभागिनीकी मृत्यु होने पर मेरे हृदयकी प्रसुप्त ज्वाला जागृत हो उठी । संसार

मुझे नर-पिशाच कहता है, कहे। मुझे लोका-पवादका भय नहीं है। संसारने मुझपर कौनसा उपकार किया है कि मैं उसकी सेवा करूँ? सच तो यह है कि संसार रणभूमि है। दया-भिक्षासे प्राणोंकी रक्षा नहीं होती। उसके लिए युद्ध करना पड़ता है। दया, प्रेम, सहानुभूति, भ्रम-मात्र है। यहाँ केवल क्रूरता है। यदि जगदीश्वर है तो वह अत्यन्त क्रूर है। कदाचित् भगवती जगदम्बाके साम्हने हजारों पशुओंका बलिदान केवल इसी अभिप्रायसे किया जाता है कि निर्बल और निस्सहायका नाश हो। जिसमें शक्ति नहीं है उसकी स्थितिसे लाभ ही क्या? इस लिए ही भगवती चण्डिका पशुओंका रक्त-पान करती है। वह संसार-रणभूमिमें निर्बल मनुष्योंका भी संहार करती है। विनोद बाबू, कोई इसे माने चाहे न माने, मैं मानता हूँ।

“मैंने उपकार नहीं किया है। मैं उपकार नहीं करूँगा। मैंने संसारकी खूब देख लिया है; संसारने भी मुझे देख लिया। मुझे न तो अब आशा है, न भय है, न संकोच है। भविष्य अंधकार-पूर्ण है। जो कुछ होगा मैं सह लूँगा। यदि मुझे नरककी विषम यंत्रणा सहनी पड़े, तो मैं उसके लिए प्रस्तुत हूँ।

“पर मुझे धनकी तृष्णा नहीं है। लोग समझते हैं मेरे पास अतुल सम्पत्ति है। पर सब भूल-में हैं। मैं धनकी लालसा नहीं रखता। मैं किसीको कुछ नहीं देता। पर जो कुछ पाता हूँ नष्ट कर डालता हूँ।”

डाक्टर बाबू फिर कुछ न बोले। मेरी ओर स्थिर-दृष्टिसे देखने लगे। इतनेमें टन् टन् कर आठ बज गये। मैं घर जानेके लिए उनसे बिदा माँगने लगा। हरिनाथ बाबूने मुझसे हाथ मिला कर कहा, ‘जाइए। मैं अब इन नोटोंसे यज्ञ करूँगा। मैं घर लौट आया।

अमावस्याकी रात्रि थी। सर्वत्र अंधकार था। मैंने खिड़की खोलकर देखा कि अन्धकारमें पड़कर खद्योत अपनी अल्प ज्योतिको व्यर्थ नष्ट कर रहा है।

विधवा-विवाह-विचार ।

(कलकत्ता हाईकोर्टके भूतपूर्व जज सर गुरुदास बनर्जीके बंगला-लेखका अनुवाद ।)

दोमेंसे एकके मर जाने पर, विवाहवन्धनका तोड़ देना उचित है या नहीं, यह विवाह-सम्बन्धी अन्तिम प्रश्न है। मृत्यु हो जानेपर विवाहवन्धन टूट जाता है, यह बात प्रायः सर्वत्र ही मानी जाती है; केवल यूरोपका पोजिटिविस्ट सम्प्रदाय * और हिन्दू शास्त्र इसे नहीं मानते। यद्यपि हिन्दू शास्त्रोंके अनुसार पुरुष एक स्त्रीके मर जानेपर अन्य स्त्री ग्रहण कर सकता है; परन्तु इससे यह नहीं समझा जाता कि उसका पहली स्त्रीके साथ सम्बन्ध टूट गया। क्योंकि पहली स्त्रीके रहने पर भी हिन्दू पति दूसरी स्त्री ग्रहण कर सकता है। परन्तु पुरुषोंके लिए एकसे अधिक विवाह करना, निषिद्ध न होनेपर भी हिन्दू शास्त्रोंमें समाहित नहीं है—वह आदर्शकी दृष्टिसे नहीं देखा जाता ×। आगस्ट कोम्टोंका यह मत बहुत ही अच्छा है और विवाहके उच्च आदर्शका अनुयायी है कि ‘स्त्रीके लिए जिस तरह पतिके वियोग होने पर दूसरा पति ग्रहण करना अनुचित है, पतिके लिए भी उसी तरह स्त्रीवियोग होनेपर अन्य स्त्री ग्रहण करना अनुचित है।’ परन्तु यह आशा अब भी नहीं की जाती कि इस आदर्शके अनुसार सर्व साधारण चल सकेंगे। प्रायः सभी देशोंमें इसके विपरीत रीति प्रचलित है और हिन्दूसमाजमें यह उच्चादर्शकी प्रथा जो थोड़ी बहुत प्रचलित भी है वह स्त्रीकी अपेक्षा पुरुषके लिए बहुत अनुकूल है। अतः पक्ष-

* कोम्टके ‘सिस्टम आफ पाजिटिव पालिटी’ के दूसरे वोल्यूमका अध्याय तीसरा और पृष्ठ १५७ देखो। + मनु, अध्याय ३ श्लोक १२-१३।

पातपूर्ण होनेके कारण अन्य समाजके लोगोंकी दृष्टिमें और हिन्दूसमाजसुधारकोंकी दृष्टिमें यह बुरी और अन्यायपूर्ण समझी जाती है ।

परन्तु यह बात ध्यानमें रखना चाहिए कि यदि देशके आधे लोग (स्त्रियाँ) किसी उच्चा-दर्शानुयायी प्रथाका पालन करते हों और दूसरे आधे (पुरुष) उसका पालन न करते हों, तो इसमें उन लोगोंका (पुरुषोंका) दोष है—इससे वे लोग ही निन्दनीय समझे जायँगे—वह प्रथा निन्दित नहीं हो सकती । जब चिरवैधव्य-पालन उच्च आदर्शकी प्रथा है तब केवल इसी लिए कि पुरुष पत्नीवियोग हो जाने पर अन्य स्त्री ग्रहण कर लेते हैं, उसे मिटा डालना अच्छा नहीं हो सकता—कर्तव्य नहीं बन सकता, बल्कि जिस उपायसे पुरुष भी उच्चादर्शके अनुयायी बन जावें, वही उपाय करना, समाज-सुधारकोंका कर्तव्य है । अतएव मूल प्रश्न यह है कि—पुरुष कुछ भी करते हों, इससे मतलब नहीं—स्त्रियोंका चिरवैधव्य पालन जीवनका उच्चादर्श है या नहीं । इस प्रश्नका वास्तविक उत्तर पानेके लिए हमें विवाहके उद्देश्यकी ओर दृष्टि डालनी होगी ।

अवश्य ही संयत भावसे इन्द्रियतृप्तिसाधन, सन्तानोत्पादन और सन्तानपालन यह विवाहका सबसे पहला उद्देश्य है; परन्तु विवाहका केवल यही एक और सबसे श्रेष्ठ उद्देश नहीं है । विवाहका द्वितीय और श्रेष्ठ उद्देश है दाम्पत्यप्रेम (पति-पत्नी-प्रेम) और सन्तानस्नेहसे धीरे धीरे चित्तकी सत्प्रवृत्तियोंका विकास होते जाना और उनके द्वारा स्वार्थपरताका नाश, परार्थ-परताकी वृद्धि तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी प्राप्त होना । यदि पहला उद्देश्य ही विवाहका एक मात्र उद्देश्य होता तो सन्तान उत्पन्न हो जानेके पहले पतिवियोग हो जाने पर दूसरे

पतिके ग्रहण करनेमें कोई दोष नहीं था, और सन्तान उत्पन्न होनेपर दूसरा पति ग्रहण करनेमें उस सन्तानके पालनमें विघ्न पड़ता, अतः उस दशामें चिरवैधव्य केवल उच्चादर्श ही क्यों प्रयोजनीय होता । किन्तु विवाहके दूसरे उद्देश्यकी ओर दृष्टि रखनेसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि चिरवैधव्यपालन ही उच्चादर्श है ।

जो पतिप्रेमका विकाश धीरे धीरे पत्नीकी स्वार्थपरताको नाश करनेका और आध्यात्मिक उन्नति करनेका हेतु होगा, वही यदि पतिके अभावमें लुप्त हो जाय और पत्नी अपने सुखके लिए उसे अन्य पतिमें न्यस्त कर दे, तो बतला-इए इसमें स्वार्थपरताका नाश क्या हुआ ? इसके उत्तरमें कभी कभी विधवाविवाहके अनुयायियों द्वारा यह कहा जाता है कि “ जो लोग विधवा-विवाहका निषेध करते हैं वे विवाहको केवल इन्द्रियतृप्तिके लिए ही आवश्यक समझते हैं और विवाहका उच्चादर्श भूल जाते हैं । वास्तवमें विधवाका विवाह करना इसलिए कर्तव्य है कि वह केवल इन्द्रियतृप्तिका कारण नहीं है, किन्तु पतिप्रेम सन्तानस्नेहादि समस्त उच्चवृत्तियोंको विकसित करता है । ” परन्तु सुधारकोंकी यह बात कुछ विचित्र मालूम होती है । देखना चाहिए, यह कथन कहाँतक ठीक उतरता है कि विधवाविवाहका निषेध विधवाकी आध्यात्मिक उन्नतिके लिए बाधाजनक है और विधवा-विवाहका विधान उस आध्यात्मिक उन्नतिके साधनका उपाय है ।

पतिप्रेम एक ही साथ सुखका आकर और स्वार्थपरताके नाशका उपाय है । यदि वह केवल सुखका आकर माना जायगा, अर्थात् ऐहिक भावसे ही अधिक आनन्द होगा, तो उसके द्वारा स्वार्थपरताके नाशकी अर्थात् आध्यात्मिक भावके विकाशकी संभावना बहुत ही कम रहगी ।

यदि विधवा आध्यात्मिक भावसे पतिप्रेमका अनुशीलन करना चाहती है तो उसके लिए दूसरा पति ग्रहण करना निष्प्रयोजन है, साथ ही बाधाजनक भी है। क्योंकि उसने पहला पति प्राप्त करनेके समय, उसीको पतिप्रेमका पूर्ण आधार माना है और उसे ही आत्मसमर्पण किया है। अतएव उसकी मृत्युके पश्चात् उसे अपने हृदयमें धारणकीहुई उसकी मूर्तिको जीवित रखना चाहिए और उसीके प्रति अविचल प्रेम रखना चाहिए; बस यही उसके लिए निःस्वार्थ प्रेम और आध्यात्मिक उन्नतिको साधन है। अवश्य ही वह उस प्रेमका प्रतिदान या बदला नहीं पायगी; परन्तु उच्चादर्शका प्रेम बदला नहीं चाहता। यदि वह (विधवा) दूसरा पति ग्रहण कर लेगी, तो पतिप्रेमानुशीलन नहीं कर सकेगी—उसके पतिप्रेममें बड़ी भारी बाधा आ पड़ेगी। उसने जिस पहले पतिको पतिप्रेमका पूर्ण आधार मानकर आत्मसमर्पण किया था उसे उसको भूल जाना होगा, अपने हृदयमें अंकित की हुई मूर्तिको पोंछ देना होगा और जो प्रेम अर्पण किया था उसे वापस लेकर दूसरे पात्रमें अर्पण करना पड़ेगा। ये सब कार्य ऐसे हैं जो आध्यात्मिक उन्नतिके मार्गमें बड़ी भारी बाधा डालते हैं और इस कारण उसके साधक कभी नहीं हो सकते। यह ठीक है कि मृत पतिकी मूर्तिको ध्यान करते रहना और उसके प्रति प्रेम और भक्ति अचल रखना बहुत ही कठिन कार्य है; परन्तु वह सर्वथा असाध्य और असुखकर नहीं है। हिन्दूविधवाओंके पवित्र जीवनमें इसके अनेक प्रमाण मिल सकते हैं। हम यह नहीं कहते कि सब ही स्त्रियाँ चिरवैधव्य पालन करनेमें समर्थ हैं। जो असमर्थ हैं—रूढ़ापा नहीं काट सकती हैं, उनके लिए हृदय अवश्य ही व्यथित होता है और यदि वे दूसरा पति ग्रहण

कर लेती हैं तो उन्हें 'मानवी' ही कहना चाहिए; परन्तु जो पवित्र भावसे चिरवैधव्यपालनमें समर्थ हैं उन्हें 'देवी' कहना चाहिए और उनके जीवनको ही विधवाजीवनका उच्चादर्श मानना चाहिए।

बहुत लोग ऐसे भी हैं जो यह स्वीकार करते हैं कि चिरवैधव्यपालन उच्च आदर्श है; परन्तु कहते हैं कि यह उच्चादर्श सर्वसाधारणके लिए अनुसरण योग्य नहीं है; इसलिए सर्व साधारणके लिए विधवाविवाहका प्रचार होना उचित है। इस विषयमें जो युक्तियाँ दी जाती हैं यहाँ उनके विषयमें, आइए, थोड़ासा विचार कर लें।

उक्त युक्तियोंकी आलोचना करनेके पहले हम इसी विषयकी कुछ बातोंका सुलासा कर देना चाहते हैं। विधवाविवाहके सम्बन्धमें अभीतक जो कुछ कहा गया है वह हिन्दूशास्त्रोंका नहीं, किन्तु सामान्य युक्तियोंका कथन है, और आगे भी हम जो कुछ आलोचना करेंगे वह सब युक्तिमूलक होगी, हिन्दूशास्त्रमूलक नहीं। अतएव यहाँ यह प्रश्न नहीं है कि विधवाविवाह कभी—किसी अवस्थामें भी—होना चाहिए या नहीं। प्रश्न है उच्चादर्शके सम्बन्धमें। चिरवैधव्य उच्चादर्श होने पर भी यह नहीं समझा जाता कि उस आदर्शके अनुसार सब ही चल सकते हैं। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि दुर्बलदेहधारिणी मानवी स्त्रीके लिए प्रथम अवस्थामें वैधव्य बहुत ही कष्टकर है। वह कष्ट कभी कभी—जैसे कि बालवैधव्यके समय—बहुत ही मर्मविदारक होता है और विधवाके कष्टमें सबका ही हृदय व्यथित होता है। जो विधवायें आध्यात्मिक बलसे उस कष्टको धारतासे सहन करके धर्मव्रतमें जीवन उत्सर्ग कर सकती हैं उनका कार्य अवश्य ही प्रशंसनीय है; पर जो ऐसा नहीं कर सकती हैं—असमर्थ हैं, उनका कार्य प्रशंसनीय नहीं है; परन्तु साथ ही उस कार्य—

की निन्दा करना भी उचित नहीं है। क्योंकि मनुष्य अवस्थाके अधीन है, उसके दोष गुण संसर्गसे उत्पन्न होते हैं। पितामाताके द्वारा जिस प्रकारके मन और शरीरकी प्राप्ति उसे होती है, और शिक्षा दृष्टान्त और आहार व्यवहारके द्वारा उसका वह मन और शरीर जिस प्रकारसे गठित होता है, उसीके ऊपर उसका कार्य अकार्य अवलम्बित रहता है। अतएव यदि कोई चिरवैधव्य पालन करनेके लिए असमर्थ होती है तो उसकी उस असमर्थताका दायित्व (जिम्मेवारी) केवल उसी पर नहीं है; वह दायित्व उसके माता पिता पर, शिक्षादाता पर और समाज पर भी जाता है। अतः यदि वह चाहे तो अवश्य ही विवाह कर सकती है। इसमें किसीको भी बाधा डालनेका अधिकार नहीं है और वह विवाह, हिन्दूशास्त्र चाहे जो कहें, सन् १८५६ के १५ वें आईनके अनुसार जायज है। अतएव आवश्यकता होने पर—प्रयोजन होनेपर—विधवाविवाह होना उचित है या नहीं, यह प्रश्न, अन्य समाजोंकी तो बात ही क्या, हिन्दूसमाजमें भी अब उठ नहीं सकता। इस समय प्रश्न यह है कि विधवा-विवाहका प्रचलित प्रथा हो जाना और चिर वैधव्यपालनको उच्चादर्श होनेपर भी उक्त प्रथाका व्यतिक्रम (अपवाद) बनाकर रखना उचित है, अथवा चिर वैधव्यपालनका ही प्रचलित प्रथा होना और विधवाविवाहका उसके व्यतिक्रम स्वरूपमें रहना उचित है? बस इसी प्रश्न पर यहाँ विचार होना है।

इस समय जिन सब देशोंमें विधवाविवाहकी प्रथा प्रचलित है यह संभव नहीं कि वहाँसे वह कभी उठ जायगी। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित कोम्टी बहुत दिन पहले चिर वैधव्यका श्रेष्ठत्व प्रतिपादन कर गये हैं; परन्तु हम देखते हैं कि उनके कथनसे पाश्चात्य प्रथामें कोई परिवर्तन

नहीं हुआ। तब इस समय पाश्चात्य देशोंकी स्त्रियाँ अपनी स्वाधीनता स्थापित करनेके लिए जिस प्रकार दृढव्रता और कटिबद्धा हुई हैं, उससे जान पड़ता है कि धीरे धीरे, विधवा क्यों कुमारियाँ भी, विवाहबन्धनमें बँधनेके लिए अनिच्छुक होंगीं और यदि ऐसा हुआ तो शायद उनके उस दृढव्रतका यह भी एक फल हो कि पाश्चात्य देशोंमें भी पवित्र चिरवैधव्यका उच्चादर्श स्थापित हो जाय। किन्तु ये सब बहुत दूरकी बातें हैं। इस समय समीपकी बात यह है कि हिन्दूसमाजमें जो चिरवैधव्यकी प्रथा प्रचलित है उसे उठा देना उचित है या नहीं?

इस प्रथाके विरुद्धमें जो सब बातें कही जाती हैं उनमेंसे पहली यह है कि इस प्रथाका फल स्त्री और पुरुषोंके लिए बहुत ही असमान है। इस बातका उल्लेख और कुछ आलोचना पहले हो चुकी है। पुरुष स्त्रीवियोगके बाद फिर विवाह कर लेते हैं; इसी लिए स्त्रियोंको भी पतिवियोगके बाद फिर दूसरा पति ग्रहण करलेना चाहिए, यह बड़ी ही असंगत प्रतिहिंसा (बदला) है। प्रकृतिके नियमानुसार पुरुष और स्त्रीके अधिकारमें सदा ही विषमता रहेगी। यह आनिवार्य है। प्रकृतिने स्वयं ही सन्तानोत्पादन और सन्तानपालनका भार पुरुषकी अपेक्षा स्त्री पर अधिक डाला है। भ्रूण (बालक) का निवास माताके गर्भमें और शिशुका आहार माताके वक्षमें रक्खा गया है। यदि स्त्री गर्भवती है या उसका बच्चा शिशु है, तो ऐसी अवस्थामें उसे पतिवियोग होने पर दूसरे पतिको ग्रहण करनेमें अवश्य ही विलम्ब करना पड़ेगा। इसके बाद इन सब शारीरिक बातोंको छोड़कर यदि हम मन और आत्माकी ओर ध्यान देंगे तो मालूम होगा कि स्त्री पुरुषोंमें अधिकारकी विषमता अवश्य ही रहेगी और यह बात हम पुरुषोंका पक्ष लेकर नहीं किन्तु

स्त्रियोंका पक्ष लेकर कह रहे हैं। पुरुषोंको इच्छा-पूर्वक या इच्छा न रहने पर भी, जीवननिर्वाहके लिए समय समय पर कठोर और निष्ठुर काम करने पड़ते हैं और इस लिए उनका हृदय तथा मन निष्ठुर हो जाता है, जिससे कि उनके आत्माका पूर्ण विकाश होनेमें बाधा पड़ती है। पर स्त्रियोंको ऐसे काम नहीं करने पड़ते। इस लिए उनके हृदय और मन कोमल रहते हैं। इसके सिवाय स्वभावसे (शायद सृष्टिरक्षाके लिए) उनकी मति स्थितिशील और निवृत्ति-मार्गमुखी होती है और उनकी सहिष्णुता, स्वार्थत्याग करनेकी शक्ति और परार्थपरता या परोपकारवृत्ति पुरुषोंकी अपेक्षा बहुत अधिक होती है। ऐसी दशामें उनके लिए स्वार्थत्यागके नियम यदि पुरुषसम्बन्धी नियमोंकी अपेक्षा काठिनतर हों तो समझना चाहिए कि वे उनके पालनेमें समर्थ हैं, इसी लिए वैसे बनाये गये हैं और यह नियमोंकी विषमता उनके गौरवकी ही चीज है लाघवकी नहीं। इसी लिए हमने यहाँ पर उनकी प्रतिहिंसाको असंगत कहा है। और जो लोग उन्हें इस असंगत प्रतिहिंसाके लिए उत्तेजित करते हैं, उन्हें उनके वास्तविक हितैषी माननेमें हमें संकोच होता है।

दूसरी बात यह कही जाती है कि यह अतिशय निर्दय प्रथा, विधवाओंकी दुःसह वैधव्य-यंत्रणाके प्रति आँख उठाकर भी नहीं देखती। यदि विधवाओंकी शारीरिक अवस्थाके प्रति दृष्टि दी जाय तो यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि यह आपत्ति बहुत ही प्रबल है। ऐसे दयाहीन हृदय बहुत ही थोड़े होंगे, जो विधवाओंके दैहिक दुःखसे दुखी न हों। परन्तु हमें यह न मूल जाना चाहिए कि मनुष्य केवल 'देही' नहीं है, उसके मन और आत्मा देहकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् और अधिक

प्रबल है। यह सच है कि देहरक्षाके लिए कितनी ही आवश्यकताओंकी पूर्ति अवश्य करनी चाहिए; परन्तु मन और आत्माके ऊपर देहका स्वामित्व रखनेकी अपेक्षा, देह पर मन और आत्माका स्वामित्व रखना अधिक वाञ्छनीय है और यदि देहका किञ्चित् कष्ट स्वीकार करनेसे मन और आत्माकी उन्नति होती हो, तो उस कष्टको कष्ट ही न गिनना चाहिए। पशुओंसे मनुष्यजाति इसी कारण तो श्रेष्ठ और कमोन्नतिप्राप्त कहलाती है कि मनुष्य देहका कष्ट स्वीकार करके बुद्धिके द्वारा प्रवृत्तियोंपर शासन करता है और भावी अधिक सुखके उद्देश्यसे वर्तमान अल्पसुखके लोभको रोक करके रखता है। पशु जब भूखा होता है तब अपने परायेका विचार न करके अपने सामने जिस साथ पदार्थको पाता है उसीको खा जाता है। असभ्य और बर्बर मनुष्य भी जरूरत होने पर अपने परायेका विचार न करके जिस किसी जरूरी चीजको पाता है, ग्रहण कर लेता है; परन्तु सभ्य मनुष्य चाहे जितनी जरूरत क्यों न हो, दूसरेकी चीजको नहीं लेता। इसी प्रकार विधवायें यदि कुछ दैहिक कष्ट स्वीकार करके, चिरवैधव्यव्रत-पालनेके द्वारा आत्मोन्नति करने और परहितसाधन करनेमें समर्थ हो सकती हैं तो उनके उस कष्टको कष्ट ही न समझना चाहिए और इसलिए जो लोग उन्हें उस कष्टके स्वीकार करनेका उपदेश देते हैं वे उनके मित्र ही हैं—शत्रु नहीं। चिरवैधव्यव्रतका पालन करनेके लिए विधवाओंको और और सत्कर्मोंके समान निमित्त, संयम और शिक्षाकी विशेष आवश्यकता है। विधवाका आहार व्यवहार संयत और ब्रह्मचर्योपयोगी होना चाहिए। यदि शारीरिक वृत्तियोंको उत्तेजित करनेवाले पृष्ठ आहार और मानसिक

वृत्तियोंको जगानेवाले वस्त्र आभूषण विलास-विभ्रमादि व्यवहार त्याग न किये जायँगे, तो चिरवैधव्य पालन नहीं हो सकेगा। इसी लिए विधवाओंके हेतु ब्रह्मचर्यकी व्यवस्था की गई है। ब्रह्मचर्यका पालन करनेमें यह ठीक है कि थोड़ेसे इन्द्रियतृप्तिकारक आहारविहारादि दैहिक सुख-भोगोंका त्याग करना पड़ता है; परन्तु इसके बदले नीरोग, सुस्थ, सबल शरीर और तज्जनित मानसिक स्फूर्ति और सहिष्णुता, और इनके फलस्वरूप विशुद्ध स्थायी सुखकी प्राप्ति होती है। इसलिए ब्रह्मचर्य ऊपरसे कठोर जान पड़नेपर भी सच्चे स्थायी सुखका आकर है। जो अदूरदर्शी हैं, अज्ञानी हैं वे ब्रह्मचर्यकी निन्दा करते हैं। इस अदूरदर्शिता और अज्ञानताके कारण ही भारत व्यवस्थापक सभाके एक सभ्यने विधवाविवाहके कानून बननेके समय हिन्दू विधवाके ब्रह्मचर्यको भयावह बतलाया था।

चिरवैधव्यव्रतसम्बन्धी एक कठिनाई और है। विधवा कन्या या पुत्रवधूको ब्रह्मचर्य पालन करानेके लिए उसके माता-पिता या सास ससुरको भी आहार-व्यवहारमें उसीके समान ब्रह्मचर्य पालन करना पड़ता है। उनके लिए यद्यपि यह असुखकर है, तो भी परिणाममें शुभकर है और इसे हम उस कन्या या पुत्रवधूके चिरवैधव्य-पालनजनित पुण्यका फल कह सकते हैं। ब्रह्मचर्यपालनमें दीक्षित होकर विधवायें अपने सुस्थ सबल शरीरसे अनेक सत्कर्म कर सकती हैं—जसे, परिजनोंकी शुश्रूषा, परिवारके बालबच्चोंका लालनपालन और रोगियोंकी सेवा, धर्मचर्चा, स्वयं शिक्षा प्राप्त करना और परिवारकी स्त्रियोंको शिक्षा देना, इत्यादि। इस तरहसे तत्र किन्तु दुःखामिश्रित ऐहिक सुखमें न सही, पर प्रशान्त निर्मल आध्यात्मिक सुखमें विधवाओंका परोपकारमें लगा हुआ जीवन कट जाता है।

पाठक इसे कोई काल्पनिक चित्र नहीं समझें। इस शान्तिमय ज्योतिर्मय पवित्र चित्रने इस समय भी भारतके अनेक गृहोंमें उजेला कर रक्खा है। हमारी अयोग्य लेखनी उसका प्रकृत सौन्दर्य अंकित करनेमें असमर्थ है। अतएव जिस प्रथाका फल विधवाओंके लिए और उनके परिवारके लिए, परिणाममें इतना शुभकर है उसकी ऊपरी कठोरता देखकर उसे निर्दय कहना कदापि उचित नहीं है।

चिरवैधव्य प्रथाके विरुद्ध तीसरी बात यह कही जाती है कि इस प्रथासे गुप्त व्यभिचार, भ्रूण-हत्या आदि अनेक कृफल फलते हैं; परन्तु यह अवश्य मानना होगा कि उनकी संख्या बहुत थोड़ी होती है। अतः कहीं कहीं ऐसा हो जाता है, केवल इसीसे यह प्रथा निन्दनीय नहीं होसकती। विधवाओंमें ही क्यों सधवाओंमें भी क्या व्यभिचार नहीं होता है? परन्तु अब इस विषयमें अधिक कहनेकी कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि विधवाका विवाह अब कानूनसे जायज ठहर गया है, इस लिए जो चिरवैधव्य पालनमें असमर्थ हैं वे इच्छा होते ही विवाह कर सकती हैं। उनके लिए इस प्रथाके परिवर्तन करनेकी तो कोई अवश्यकता नहीं दीखती।

चिरवैधव्य प्रथाके विरुद्ध चौथी और सबसे पिछली बात यह कही जाती है कि यह प्रथा जबतक प्रचलित रहेगी, तबतक विधवायें इच्छानुसार विवाह करनेका और उनके मातापिता इच्छानुसार उनको ब्याह देनेका साहस नहीं कर सकेंगे। कारण, प्रचलित प्रथाके विरुद्ध काम करनेके लिए सभी संकोच करते हैं और ऐसा काम जनसाधारणकी दृष्टिमें अतिशय निन्दित और तिरस्कृत समझा जाता है। अतएव समाज-सुधारकोंका यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे इस विषयमें आन्दोलन करें जिससे कि लोगोंके विचार बदल जायँ और यह प्रथा उठ जाय।

जान पड़ता है इसी लिए, विधवाविवाह कानूनसे जायज हो गया है तो भी, और इसे रोकनेका किसीको कोई अधिकार नहीं है तो भी, विधवाविवाहके पक्षपाती चिरवैधव्य प्रथाको उठानेके अर्थ इतने यत्नशील हो रहे हैं। यद्यपि वे अथवा उनमेंसे बहुतसे लोग यह स्वीकार करते हैं कि अपनी इच्छासे प्रेरित होकर चिरवैधव्यपालन उच्चादर्श है, तथापि वे चाहते हैं कि यह उच्चादर्शपालन, प्रथा न होकर प्रथाके व्यतिक्रम स्वरूपमें या अपवाद रूपमें रहे और विधवाविवाह ही प्रचलित प्रथा बन जाय। परन्तु यह बात हमारी समझमें नहीं आती कि जब इच्छा होती ही विधवाओंका विवाह बेरोकटोक हो सकता है, तब वे जिसे उच्चादर्शानुयायी प्रथा मानते हैं उसे उठा देकर विधवाविवाहकी प्रथा क्यों प्रचलित करना चाहते हैं। यह कैसी विचित्र बात है कि इधर तो वे चिरकौमार व्रतकी प्रशंसा करते हैं और उधर चिरवैधव्य प्रथाको उठा देनेके लिए कटिबद्ध हो रहे हैं। यदि यह प्रथा इस विषयमें बाधक होती कि कोई विधवा प्रयोजन होने पर या इच्छा होनेपर भी विवाह नहीं कर सकती, तो इसे उठा देनेकी चेष्टा करना ठीक भी होता। पर इस समय समाजबन्धन इतने शिथिल हैं और समाजकी शक्ति इतनी थोड़ी है कि समाजकी कोई भी प्रथा किसीकी भी इच्छाको रोक नहीं सकती। तब यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि यद्यपि उक्त प्रथा विधवाकी विवाहेच्छा होनेपर उसमें बाधा नहीं डाल सकती है, किन्तु उस इच्छाकी उत्पत्तिको अवश्य रोकती है और यही कारण है जो आज विधवाविवाहके कानूनको बने हुए आधी सदीसे अधिक समय बीत गया है, तो भी अब तक हिन्दू विधवाओंकी विवाहसम्बन्धी अनिच्छा साधारणतः पहलेके ही समान बनी हुई है-उसमें परिवर्तन नहीं हुआ है। इससे तो

यह जान पड़ा कि हिन्दू विधवाओंकी विवाह-विषयक अनिच्छाको दूर करके उसके स्थानमें इच्छा या प्रवृत्तिको जन्म देना ही समाजसुधारकोंका उद्देश्य है। परन्तु इस उद्देश्यके साधनका फल भी तो बतलाना चाहिए कि क्या होगा। इससे विधवाओंको थोड़ासा क्षणभंगुर ऐहिक सुख अवश्य प्राप्त हो सकेगा; परन्तु उसके द्वारा न तो उन्हें कोई स्थायी सुख मिलेगा और न समाजका कोई विशेष कल्याण होगा। इसके विरुद्ध, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चिरवैधव्यसे उनको स्थायी निर्मल सुख मिलता है और समाजका बहुत कुछ कल्याण होता है। यह समझना कठिन है कि जब हम आत्मसंयम, स्वार्थत्याग, परार्थपरायणता आदि उच्च गुणोंके विकासको और और विषयोंमें मनुष्यकी क्रमोन्नतिका लक्षण मानते हैं, तब विधवाविवाहके विषयमें उससे उलटी प्रणालीका अवलम्बन क्यों करना चाहते हैं। अर्थात् विवाह नहीं करके यदि विधवायें आत्मसंयम करती हैं तो इसे हम मनुष्यकी क्रमोन्नतिका लक्षण क्यों नहीं मानते, बुरा क्यों समझते हैं।

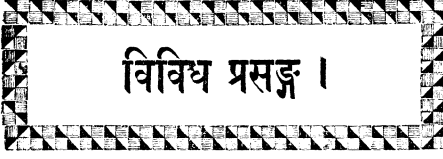
लोगोंका शायद यह खयाल होगा कि पाश्चात्य देशोंमें विधवाविवाहकी प्रथा प्रचलित है और उन्हीं सब देशोंकी साम्प्रतिक उन्नति बहुत अधिक हो गई है, अतएव इस देशमें भी इस प्रथाके प्रचलित होनेसे उसी प्रकारकी उन्नति हो जायगी। किन्तु इस बातमें कोई तथ्य नहीं है, कोई युक्ति नहीं है। बाल्यविवाहके साथ देशकी अवनतिका कार्य-कारण-सम्बन्ध तो हो भी सकता है, किन्तु चिरवैधव्यपालनके साथ इसका क्या सम्बन्ध है, यह समझमें नहीं आता। यदि यह बात ठीक होती कि हमारे समाजमें स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंकी संख्या अधिक है, और विधवाविवाह प्रचलित न होगा तो बहुतसे पुरुषोंको आविवाहित रहना पड़ेगा और इससे

देशकी जनसंख्याका ह्रास होगा तो अवश्य ही देशकी अवनतिसे इसका कोई सम्बन्ध है, यह बात मान ली जाती। किन्तु वास्तवमें स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंकी संख्या कम है, अतएव विधवा-विवाह प्रचालित होनेसे सभी कुमारियोंको पति नहीं मिल सकेंगे, बहुतोंको आजन्म कुमारी रहना पड़ेगा। ऐसी दशामें जब तक यह न मान लिया जाय कि पाश्चात्य देशोंकी सभी रीति-नीतियाँ अनुकरणीय हैं तबतक विधवाविवाह प्रचालित करनेकी चेष्टा निष्कारण है।

शीतोष्णमय जडजगतमें वही 'सबल-शरीर,' कहलाता है जो बिना कष्टके गर्मी सर्दीको सहन कर सकता है और रोगी नहीं होता। इसी तरह सुखदुःखमय संसारमें वही सबलमना कहा जाता है जो समभावसे सुखदुःख भोग सकता है; दुःखमें जो व्याकुल नहीं होता है और सुखमें विगतस्पृह (इच्छारहित) रहता है। निरवच्छिन्न (अखण्ड) सुख किसीको प्राप्त नहीं है, दुःखका भाग सर्भके हिस्सेमें आता है; ऐसी दशामें वही शिक्षा शिक्षा कही जा सकती है जिसके द्वारा शरीर और मनका ऐसा गठन हो जाय कि दुःखका बोझा उठानेमें कुछ भी कष्ट न हो। सुखाभिलाषा होने पर उसी सुखकी कामना करनी चाहिए जिसका कभी ह्रास न हो और जिसमें दुःखकी कालिमा न मिली हो। एक पतिके मर जानेपर दूसरा पति तो मिल सकता है, परन्तु यदि कोई पुत्र भर गया, तो वह कहाँसे आवेगा? उसके अभावकी पूर्ति कैसे होगी? जिस मार्ग पर चलनेसे सारे अभावोंकी पूर्ति हो जाती है, अर्थात् अभावका अभावरूपमें बोध नहीं होता है, वही निवृत्तिसुखमार्ग, प्रेय (प्रिय) न होनेपर भी, श्रेय (कल्याणकारी) है। उसी मार्गपर जो चलते हैं वे वास्तवमें स्वयं भी सुखी होते हैं और अपने उज्ज्वल दृष्टान्त द्वारा औरोंके दुःखोंका भार भी, सर्वथा नहीं तो बहुत कुछ, हल्का कर देते हैं। हिन्दूविधवायें अपने शरीर और मनको ब्रह्मचर्य और संयमके द्वारा संशोधित करके उसी

निवृत्तिमार्गका अनुसरण करती हैं। उस सुपथसे लौटाकर उन्हें विपथगामी बनानेकी चेष्टा करना, न तो उनके लिए हितकर है और न साधारण समाजके लिए। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू विधवाओंके दुःसह कष्टोंका विचार करनेसे हृदयमें अतिशय वेदना होती है; किन्तु उनकी लोकोत्तर कष्टसहिष्णुता और उनके असाधारण स्वार्थत्यागके प्रति दृष्टि डालनेसे मन एक ही साथ विस्मय और भक्तिसे भर जाता है। हिन्दू विधवायें ही संसारमें पतिप्रेमकी पराकाष्ठा दिखाती हैं। उनकी उज्ज्वल मूर्तियोंने इस समय नाना दुःखरूपी अन्धकारसे भरे हुए हिन्दुओंके घरोंको प्रकाशित कर रक्खा है। उनके प्रकाशमान दृष्टान्त हिन्दुनरनारियोंकी जीवनयात्राके पथप्रदर्शक बन रहे हैं। उनका पवित्र जीवन पृथिवीका एक दुर्लभ पदार्थ है। हिन्दू विधवाओंकी चिरवैधव्य प्रथा हिन्दू समाजका देवीमन्दिर है। हिन्दू समाजमें सुधारके अनेक स्थान हैं और सुधारकोंके लिए काम की कमी नहीं है; न जाने कितने स्थानोंको वर्तमान काल और अवस्थाके अनुकूल उपयोगी बनाना है; इस लिए उनसे हमारी बहुत ही विनयके साथ प्रार्थना है कि वे विलासभवन बनानेके लिए उक्त देवीमन्दिरको तोड़ फोड़ डालनेकी कृपा न करें।

इस लेखसे कोई सज्जन हमें समाजसुधारका विरोधी न समझ लें। हम वास्तविक सुधारको बुरा नहीं समझते। हम जानते हैं कि समाज परिवर्तनशील हैं, किसी समय भी वह स्थिर नहीं रह सकता। हमारा विश्वास है कि जगत् निरन्तर गतिशील है और वह गति, बीच बीचमें व्यतिक्रम होते रहने पर भी, परिणाममें उन्नति-सुखी है। हम चाहते हैं कि समाजसुधार या संस्कारका लक्ष्य वास्तविक उन्नति अर्थात् आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर बराबर बना रहे और इसी लिए किसीको भली लगे या बुरी, हमने समाजसुधारक सज्जनोंसे इतनी बातें कह डालीं।



१ स्याद्वादविद्यालयकी दशा ।

अन्यत्र 'स्याद्वाद-महाविद्यालयकी भीतरी दशा' शीर्षकका एक लेख प्रकाशित किया जाता है। इसके लेखक श्रीयुक्त बाबू निहाल-करणजी सेठी एम. एस सी. हैं। आपको नव-स्थापित हिन्दू विश्वविद्यालयमें प्रोफेसरका कार्य मिला है, इसलिए अब आप काशीमें ही रहते हैं। उपर्युक्त लेख आपने विद्यालयकी भीतरी दशाका ज्ञान प्राप्त करके बहुत ही निष्पक्ष दृष्टिसे लिखा है। हम आशा करते हैं कि जैनसमाज इसे ध्यानसे पढ़ेगा और देखेगा कि जिन संस्थाओंका उसे अभिमान है, जिनके लिए वह अपनी गाढ़ी कमाईका धन खुले हाथों खर्च करता है और जिनकी सहायताके लिए उससे अपीलेंपर अपीलें की जाती हैं, उनकी भीतरी दशा कितनी खराब है। वे खास खास आदमियोंके हाथोंकी कठपुतलियाँ हैं।

यह बात केवल दिखाने भरके लिए है कि उनका प्रबन्ध समाजकी इच्छानुसार होता है। हमारा विश्वास है कि एक 'स्याद्वादविद्यालय' ही नहीं, और भी कई जैनसंस्थाओंकी यही हालत है; परन्तु दुर्भाग्यकी बात यह है कि सब जगह उक्त सेठीजी जैसे हितैषी और स्पष्टवक्ता पुरुष नहीं जो जनसाधारणको इस प्रकार निष्पक्ष होकर संस्थाओंकी भीतरी दशाका ज्ञान प्राप्त करानेकी आवश्यकता समझते हों। जहाँ देखिए वहीं संस्थाओंकी भीतरी हालत पर पर्दा डालनेके पक्षपाती ही दिखलाई देते हैं। उन्हें भय रहता है कि भीतरी दशाके प्रकाशित होनेसे संस्था-

ओंकी आर्थिक अवस्थाको धक्का लगेगा। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनका अभिप्राय अच्छा है; परन्तु इसके साथ ही यह भी कहना पड़ेगा कि इस प्रकारकी 'चुपं कुरु चुपं कुरु' की नीतिसे कोई स्थायी लाभ नहीं होता-संस्था-ओंकी दशा कभी नहीं सुधर सकती। वह तभी सुधरेगी जब लोग उनकी भीतरी दशासे समय समय पर परिचित होते रहेंगे, कार्यकर्त्ताओंपर उनकी जानकारीका प्रभाव पड़ता रहेगा और कार्यकर्त्ता इस बातकी चिन्ता रखेंगे कि यदि हमारा कोई प्रमाद होगा तो लोग हमसे उत्तर माँगे। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि जिस संस्थामें ५०० ६०० रुपया मासिक खर्च होता है, उसके सभापति, उपसभापति, अधिष्ठाता, उपधिष्ठाता यहाँतक कि मंत्री भी बाहर रहते हैं और एक धर्माध्यापक महाशय उसके एक मात्र विधाता बन रहे हैं। चाहे जिसको नियत कराना और अलग करवाना उनके बायें हाथका खेल है। वे मंत्रीका अपमान करते हैं, इसके कारण अलग कर दिये जाते हैं; पर अपनी 'चाणक्य-नीति' से वे अपना बाल बाँका नहीं होने देते और अपने विरोधीको अलग कराके छोड़ते हैं। प्रबन्धकर्त्ता जान जाते हैं कि उनका अपराध है, पर डर जाते हैं और कुछ नहीं कर सकते हैं। उन्हें भय है कि और कोई धर्माध्यापक न मिलेगा! अच्छा होता यदि इसके साथ मंत्री महाशय भी खारिज कर दिये जाते और इस तरह धर्माध्यापक महाशयकी विजय पर एक कलश और चढ़ा दिया जाता।

२ कार्यकर्त्ताओंका चुनाव ।

हमारी संस्थाओंकी अव्यवस्थाका एक बड़ा भारी कारण यह है कि अधिकारियोंका चुनाव योग्यताके खयालसे नहीं किया जाता। यह

नहीं सोचा जाता कि जो महाशय चुने जाते हैं वे उस कामको अच्छी तरह कर सकेंगे या नहीं, अथवा उनको काम करनेकी रुचि या अवकाश भी है या नहीं । इस विषयमें संस्थाके लाभकी अपेक्षा खुशामद और चापलूसीकी ओर अधिक दृष्टि रक्खी जाती है और ऐसे मौकोंपर खुशामदा और चापलूसोंकी ही विजय होती है; उनकी ओरसे जिनका प्रस्ताव किया जाता है, वे ही चुनलिये जाते हैं—निष्पक्ष सम्मति देनेवाले मुँह ताकते रह जाते हैं । केवल सभापतियोंके चुनावमें ही यह बात नहीं होती है, अधिष्ठाता मंत्री आदि काम करनेवाले पदोंका चुनाव भी इसी ढंग पर होता है ।

सुनते हैं, आनकल विद्यालयके अधिष्ठाता पं० गणेशप्रसादजी न्यायाचार्य हैं जो काशीमें नहीं किन्तु सैकड़ों कोसकी दूरीपर सागरमें रहते हैं । हम उक्त पण्डितजीकी सज्जनता और न्याय-व्याकरणसम्बन्धी योग्यताको बहुत ही आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, उनकी निस्वार्थ वृत्तिकी भी हम प्रशंसा करते हैं; परन्तु इस बातको माननेके लिए हम कदापि तैयार नहीं हैं कि उनमें किसी संस्थाको चलानेकी या अधिष्ठाता बननेकी भी कोई अच्छी योग्यता है । पण्डितजी इतने सीधे और सज्जन हैं कि वे स्वयं भी किसीसे अपनी प्रबन्ध-सम्बन्धी योग्यताका सर्टिफिकेट लेना पसन्द नहीं करेंगे । एक सागरकी पाठशाला ही उनके द्वारा अच्छा तरह नहीं चल रही है जिसका लगभग २५०-३०० रुपये मासिकका खर्च है, पर जिसकी ६-७ वर्षोंमें एक भी रिपोर्ट प्रकाशित नहीं हुई है। ऐसी अवस्थामें हमें विश्वास है कि उन्होंने काशी पाठशालाके 'अधिष्ठातापने' का भार अपनी इच्छानुसार कभी नहीं लिया होगा । अवश्य ही खुशामद और चापलूसी करनेवालोंने उनके सिर जबर्दस्ती यह भार मढ़

दिया होगा । फिर भी हम कहेंगे कि पण्डितजीने यह भार लेकर अच्छा नहीं किया—ऐसे स्वच्छन्द छात्रों और धर्माध्यापकोंपर शासन करके कीर्ति लाभ करना जरा टेढ़ी खीर है । या तो पण्डितजीको उनके इच्छानुवर्ती बनकर रहना पड़ेगा, या हर समय स्वयं अलग हो जानेके लिए तैयार रहना पड़ेगा । मंत्री महाशयको हम जानते नहीं हैं; पर यह अवश्य कहना पड़ेगा कि मंत्रीका काम किसी काशीनिवासीके ही हाथमें रहना चाहिए, बाहर रहकर कोई मंत्रीका काम अच्छी तरह नहीं कर सकता ।

३ धर्माध्यापककी शक्ति ।

पं० उमरावसिंहजीके लिए पाठशालाके कामोंमेंसे किसीको निकलवाकर अलग कर देना बायें हाथका खेल है । इस विषयमें वे सिद्धहस्त हैं । स्याद्वादविद्यालयकी प्रबन्धकारिणी सभामें ब्र० भगवानदीनजी और बाबू दयाचन्दजी गोयलीय बी. ए., ये दो सज्जन बहुत ही योग्य थे; परन्तु सुनते हैं आपने इनपर यह दोष लगाकर कि ये विधवाविवाहके पोषक हैं, सभासे अभी कुछ ही महीने पहले अलग करवा दिया है ! बाबू निहालकरणजी सेठीकी भी यही दशा होनेवाली थी । ता० २८ अक्टूबरकी सभामें धर्माध्यायक महाशयने इनको भी अलग कर देनेके लिए प्रस्ताव किया था और सुबूतमें जैनहितैषीके लेख पेश किये थे; परन्तु उस समय आप स्वयं अपराधी थे इस कारण कुछ न कर सके और सभाने आपकी बात पर ध्यान न दिया । सेठीजीको डर है कि अभी नहीं तो आगे शीघ्र ही मैं अलग कर दिया जाऊँगा, इस लिए उन्होंने उपसभापति महाशयकी सेवामें एक इस्तीफा पेश कर दिया है (जिसकी नकल आगे दी गई है) ।

इस अभिनव उपायके निकालनेके कारण हम पं० उमरावसिंहजीके कौशलकी तारीफ किये बिना नहीं रह सकते । अन्यान्य संस्थाओंके एकहत्थी शासकोंको भी इस युक्तिसे काम लेना चाहिए । ज्यों ही कोई स्वतंत्र खयालोंका आदमी दिखलाई दिया और उसने कोई बात अपनी सत्तामें हानि पहुँचानेवाली कही—और ऐसे लोग अक्सर कहते ही हैं—तो उसके ललाटपर चटसे 'विधवाविवाहके पक्ष' का तिलक लगा दिया ! बस काम बन गया । 'न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी।' बाबू लोगोंको भी अब इस नये यंत्रके आविष्कारकी खबर सुनकर चेत जाना चाहिए और अपने बोरिया बँधना सँभाल लेना चाहिए ।

४ संस्कृतके विद्यार्थी ।

संस्कृतके पढ़नेवाले जैनविद्यार्थी कितने उद्धत हो जाते हैं, और वे आगे समाजका क्या उपकार करेंगे, इस विषयमें सेठीजानि जो वाक्य लिखे हैं उनपर पाठकोंको खास तौरसे ध्यान देना चाहिए । संस्कृतके विद्यार्थियोंसे—जो निकटके भविष्यमें पण्डित बननेवाले हैं—जैनसमाजको बहुत बड़ी आशा है । इस समय जैनसमाज विद्याकी उन्नतिके लिए जितना धन खर्च करता है उसका अधिकांश संस्कृतके लिए ही लगता है । समाजने सबसे अधिक आवश्यकता इसीकी समझी है । यदि इसीके विद्वानोंसे हमें इतना अधिक निराशा होना पड़ा तो बड़े ही दुःखकी बात होगी । हमें इन्हें विनयवान्, सहनशील, निरामिमानी और सदाचारी बनानेकी ओर सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए । ये हमारे धर्मोपदेशक बननेवाले हैं । यदि इन्हींका चरित्र अच्छा नहीं हुआ तो फिर हम अपनी भलाईकी और क्या आशा रख सकते हैं ?

संस्कृतके विद्यार्थियोंसे अभी तक हमें जो कुछ परिचय रहा है, उससे हमें विश्वास हो गया है कि वे अच्छेसे अच्छे सदाचारी विनयशील और स्वार्थत्यागी बन सकते हैं; परन्तु प्रबन्धकर्त्ताओंका इस ओर जरा भी ध्यान नहीं रहता है । उनकी प्रबन्धप्रणाली ही ऐसी है कि वे अतिशय उच्छ्रंखल स्वार्थी और अभिमानी बन जाते हैं । प्रबन्धकर्त्ता उन्हें मनाकर खुशामद करके रखते हैं तब वे रहते हैं, नहीं तो अन्यत्र चले जाते हैं और वहाँ भी मजेसे छात्रवृत्ति प्राप्त कर लेते हैं । जितनी संस्थायें हैं, उनमें प्रायः परस्पर स्पर्धा रहती है, इस लिए एक संस्थाका अपराधी विद्यार्थी दूसरी संस्थामें मजेसे आदरपूर्वक ले लिया जाता है । अभिमानकी तो कुछ पूछिए ही नहीं, कोई छोटा मोटा व्याकरण या एकाध काव्य पढ़ पाया कि संस्कृतके छात्रोंका मस्तक आसमान पर पहुँच जाता है और उनकी इस अभिमानवृत्तिको उलटा उत्तेजन मिलता है, उसे दबानेकी कोशिश नहीं की जाती । यदि संस्थाका प्रबन्ध किसी संस्कृत न जाननेवालेके हाथमें रहता है, तो छात्र उससे जरा भी नहीं दबना चाहते । उन्हें पक्का विश्वास रहता है कि अंगरेजी आदिके विद्वान् विद्वान् ही नहीं हो सकते और उन्हें हम पर शासन करनेका कोई अधिकार ही नहीं है । हमने बहुत कम छात्र ऐसे देखे हैं जो छात्रवृत्ति देनेवाली संस्थाओंके या दाताओंके प्रति अपने हृदयमें कृतज्ञताका भाव रखते हैं, या उस वृत्तिके बोझसे अपनेको कुछ दबा हुआ समझते हैं । उनकी समझमें दाताओंका कर्तव्य है कि वे उन्हें वृत्ति दें, पर स्वयं उनका यह कर्तव्य नहीं कि अपनेको उस वृत्तिके बोझसे हलके होनेकी भावना भी रखें । वे तो अपनी समझमें संस्थाओं पर एक प्रकारकी कृपा करते

हैं जो उनमें रहकर पढ़ते हैं ! दो तीन वर्ष पहले काशीके एक छात्रका पत्र यहाँकी एक संस्थाके सैक्रेटरीके पास आया था जिसमें स्पष्ट शब्दोंमें लिखा था कि “ आपको स्काल-शिप देना हो तो दीजिए, नहीं तो, हम कोई दूसरा प्रबन्ध कर लेंगे । ” ये भाव हैं जिन्हें लेकर संस्कृतके छात्र बाहर निकलते हैं और जैनसमाजके धर्माशिक्षक बनते हैं ! हम ऐसे अनेक पण्डितोंके नाम जानते हैं जो ३०-३५ से लेकर ५०-६० रुपये मासिक तककी जीविका करते हैं; पर जिन संस्थाओंसे चार चार छह छह और इससे भी अधिक वर्षों तक छात्रवृत्तियाँ लेकर वे संस्कृतके पण्डित बने हैं, उनको कभी पाँच रुपयेकी भी सहायता करना अपना कर्तव्य नहीं समझते हैं । दो चार पण्डित ऐसे भी हैं जिन्होंने रथप्रतिष्ठाओंकी दक्षिणाओंसे दश दश बीस बीस हजार रुपये कमा लिये हैं; पर जिनकी ओरसे कहीं किसी विद्यासंस्थामें दश बीस रुप-योंका दान दिया गया भी नहीं सुना है; यद्यपि वे स्वयं दूसरोंकी सहायतासे पढ़े हैं ! कृतघ्नता और स्वार्थसाधुताके इन भावोंको दूर करनेका जबतक हमारी संस्थायें प्रयत्न नहीं करेंगी, तबतक यही दशा रहेगी ।

५ बाबू निहालकरणजीका इस्तीफा ।

“ बनारस

३०-१०-१६

श्रीमान् उपसभापति महोदय

श्रीस्याद्वादमहाविद्यालय काशीकी सेवामें, निवेदन है कि निम्नलिखित कारण मुझे विश्व करते हैं कि मैं विद्यालयकी प्रबंधकारिणी सभाका सभासद अब न रहूँ:—

१—ऐसा जान पड़ता है कि इस सभाको मेरी बातोंकी सत्यतापर विश्वास नहीं होता ।

२—इस समयकी घोर अशांतिका ठीक कारण ज्ञात हो जाने पर भी दोषीको सभा दंड देना उचित नहीं समझती वरन् जिसका इस झगड़ेसे कोई सम्बंध नहीं उस निर्दोष व्यक्तिको पृथक् कर देनेके लिए प्रस्तुत है ।

३—सभाने मुझे अशांतिका कारण जानने और उसका उचित प्रबंध करनेको नियत किया था । कारण ज्ञात हो जानेपर सभाको मैंने वह ज्यों-का त्यों बतला दिया । ऐसा करनेमें मुझे जो अप-राधी था उसका दिल दुखाना पड़ा था । किन्तु जब सभा अपनेको इतनी शक्तिहीन समझती है कि अपराधीको दंड देनेमें असमर्थ है और उसहीके कहनेके अनुसार चलनेको और अप-राधीहीकी ‘सुशामद’ करनेको प्रस्तुत है तब मैं देखता हूँ कि मैं अपने आत्मसम्मानकी रक्षा सभाका सदस्य रह कर नहीं कर सकता ।

४—व्यक्तिविशेषके लाभ और हानिपर दृष्टि रखकर सभा विद्यालयके उचित प्रबंधकी ओर ध्यान नहीं देती; ऐसी दशामें समाजका ५००-६०० १० मासिक व्यय होकर भी उसका कोई लाभ नहीं हो सकता, इस लिए सभा समाजके प्रति दोषी है—मैं इस दोषका भागी नहीं बनना चाहता ।

५—मैं देखता हूँ कि विद्यालयके प्रबन्धमें इतनी गड़बड़ी है कि जिससे उसकी और समा-जकी बहुत हानि होती है और यह भी जानता हूँ कि यह सभा उसका उचित प्रबंध करनेमें बहुत शिथिल है । अतः अब समय आगया है कि इसका यथार्थ चित्र समाजके सम्मुख रक्खा जाय । समाजसे इसके कुप्रबंधकी कथा छुपानेसे अब कोई लाभ नहीं हो सकता । इत्यादि । अतः आशा है कि आप कृपा कर मेरा इस्तीफा स्वीकार करेंगे ।

भवदीय

निहालकरणसेठी ।”

६ संचालकोंका और समाजका कर्तव्य ।

विद्यालयके संचालकोंको इस मामलेकी ओर पूरा पूरा ध्यान देना चाहिए और यह एक क्षण भरके लिए भी न भूल जाना चाहिए कि समाज विद्यालयको जो कुछ द्रव्य देता है, वह हम लोगोंके विश्वास पर देता है। समाजका भी यह कर्तव्य है कि वह तब तक शान्त न हो जब तक कि उसे भली भाँति यह न मालूम होजाय कि विद्यालयकी दशा अच्छी है, और हमारे धनका सदुपयोग हो रहा है। अधिकारियोंका चुनाव बहुत कुछ सोच विचार कर किया जाना चाहिए। यह दशा बहुत ही असंतोषजनक है कि सभापति, उपसभापति, अधिष्ठाता और मंत्री तक संस्थासे दूर रहते हैं और उनका संस्थाके साथ साक्षात् सम्बन्ध बहुत कम रहता है। कमसे कम अधिष्ठाता और मंत्री तो स्थानीय ही रहने चाहिए। हमें आशा है कि किसी भीतरी कारणसे यह मामला दबा न दिया जायगा।

७ लार्ड बेकनकी सलाह ।

सुप्रसिद्ध विचारक लार्ड बेकनके नीचे लिखे विचार—जो उन्होंने एक ही धर्मके अनुयायियोंके बीचकी शान्ति और क्लेशमय स्थितिके सम्बन्धमें प्रकट किये थे—जैनोंके लिए अत्यन्त उपकारक समझकर उद्धृत किये जाते हैं:—“ एक ही धर्मके माननेवालोंके बीचमें गाली गलोज या मारपटि हो तो उसका दो प्रकारका प्रभाव पड़ता है। एक तो उस धर्मसे बाहरके मनुष्योंपर पड़नेवाला प्रभाव और दूसरा उसी धर्मके अनुयायियों पर पड़नेवाला प्रभाव। (१) एक ही धर्मके लोगोंको एक दूसरेकी निन्दा करते और एक दूसरेकी पूजन

विधियोंको असत्य ठहराते हुए देखकर, बाहरके लोगोंके विचार उस धर्मके विषयमें अच्छे नहीं रहते और (२) उस धर्मके माननेवालोंके बीचमें निन्दा, झगड़ा आदि चलनेसे उनकी शान्ति प्रगति और बलकी हानि होती है। ”

V. M. Shah.

८ विधवा-विवाहका प्रश्न ।

अन्यत्र प्रकाशित 'विधवाविवाह-विचार' शीर्षक लेखपर विधवाविवाहके अनुयायी और विरोधी दोनोंको ही विचार करना चाहिए। लेख बहुत ही महत्त्वका है और बहुत ही विचारपूर्वक लिखा गया है। परन्तु यह ध्यानमें रखना चाहिए कि यह मुख्यतः हिन्दूसमाजपर दृष्टि रख कर लिखा गया है। इस लिए इसकी सभी बातें जैन-समाजकी परिस्थितिके अनुकूल नहीं हो सकतीं। जैसे कि, इसमें यह माना गया है कि हिन्दुओंमें स्त्रियोंकी संख्या अधिक है और पुरुषोंकी कम है, इसलिए यदि चिरवैधव्यकी प्रथा उठा दी जायगी तो फिर विधवाओंके बदले बहुतसी कुआँरियोंको अविवाहित रहना पड़ेगा। परन्तु जैनसमाजकी परिस्थिति हिन्दुओंसे ठीक उलटी है। अन्यत्र प्रकाशित श्रीयुत बाबू माणिकचन्द्रजिके व्याख्यानमें दी हुई संख्याओंसे मालूम होगा कि जैनसमाजमें स्त्रियों की संख्या पुरुषोंसे बहुत ही कम है और इस कारण कुआँरियोंकी संख्या बहुत ही भयंकर रूपसे बढ़ रही है। ऐसी दशामें इस बातका निर्णय होनेकी आवश्यकता है कि इस लेखमें सिद्ध किये हुए उच्च आदर्शकी रक्षा करना अच्छा है; या विधवाविवाह जारी करके जैनसमाजकी घटती हुई संख्याको रोकना अच्छा है। यदि उच्च आदर्शकी रक्षा करना है, और विधवाविवाहको जारी नहीं करना है, तो फिर कोई तीसरा

उपाय बतलाना चाहिए जिससे जैनसमाज चिर-जीवी बना रहे—सौ सवासौ वर्षोंमें ही उसका निर्वाण न हो जाय । क्या जैनैतरोंकी लड़कियोंसे विवाह-सम्बन्ध करनेकी और इस तरह स्त्रियोंकी कमी पूरी कर लेनेकी समाज आज्ञा दे सकता है ?

१ पं० लक्ष्मीचन्द्रजीकी उपाधियाँ ।

सुप्रसिद्ध जैन व्याख्याता पं० लक्ष्मीचन्द्रजीको 'दिगम्बरजैनमन्दिर, कूचा सेठ' देहलीकी ओरसे गत आसोज वदी १५ की रातको एक अभिनन्दनपत्र दिया गया था । इस अभिनन्दन पत्रमें उक्त मंदिरने अथवा मन्दिरके जैन भाइयोंने पण्डितजीको सिद्धान्तरत्नभूषण, व्याख्यान वाचस्पति, सुभाषितसुधासिंधु, ज्ञानसागर, कारुण्यरत्नाकर, व्याख्यानकेसरी, और मिथ्यात्वतिमिरमार्तण्ड, इन सात उपाधियोंसे सत्कृत किया है और फुटनोटमें प्रकट किया है कि ये उपाधियाँ पण्डितजीको बुन्देलखण्ड (?), कोटा, कलकत्ता, चांदखेड़ी, मन्दसौर, रतलाम, और देहली इत्यादि नगरोंसे मिली हैं । अवश्य ही यह फुटनोट पण्डितजीकी डायरीपरसे या उनकी स्मृतिसूचनासे लिखा गया होगा । हमारी समझमें उपाधियोंकी संख्या बहुत कम है । पण्डितजीको और उनके भक्तोंको कोशिश करनी चाहिए जिससे ये कमसे कम एक सौ तो हो जायँ और कलिकाल केवली, सिद्धांतसर्वज्ञ, तर्कतीर्थकर, चातुर्यचक्रवर्ती आदि सुन्दर सुन्दर पदवियाँ तो व्यर्थ न पड़ी रहें । भारतकी राजधानी देहलीके धर्मात्माओंको तो इस विषयमें स्वास तौरसे प्रयत्न करना चाहिए । उनकी शोभा इसीमें है !

१० बम्बईका दीक्षामहोत्सव ।

कहा जाता है कि स्थानकवासी सम्प्रदायके स्थापकोंने यह देखकर मूर्तिपूजाका निषेध किया था कि मूर्तिपूजा और मन्दिरप्रतिष्ठाओंमें जैनसमाजकी सीमासे अधिक शक्तियोंका खर्च होता है, इनसे आपसी क्लेश और लड़ाई झगड़े भी बहुत होते हैं, और इन गौणकार्योंकी ओटमें जैनधर्मके मुख्य कार्य छुप जाते हैं । उन्होंने यह विरोध इतने जोरके साथ किया कि उनका एक जुदा ही सम्प्रदाय बन गया जो मूर्तिपूजाको सर्वथा अनावश्यक समझता है । यदि इस सम्प्रदायके स्थापकोंने इसी अभिप्रायसे मूर्तिपूजाका निषेध किया था तो कहना होगा कि उनका मतलब सिद्ध नहीं हुआ । यह संभव है कि शुरू शुरूमें इससे कुछ लाभ हुआ हो, पर इस समय तो स्थानकवासी भाइयोंने उस अभिप्रायको भुला दिया जान पड़ता है । जिस तरह मूर्तिपूजक भाई अपनी शक्तियोंको मूर्तिपूजाके रथप्रतिष्ठादि कार्योंमें लगाते हैं उसी तरह स्थानकवासी भाई साधुपूजामें लगाने लगे हैं । अन्तरकेवल इतना ही है कि वे मूर्तिपूजक हैं तो ये मनुष्यपूजक बन गये हैं । अभी बम्बईमें जो स्थानकवासी सम्प्रदायकी ओरसे दीक्षा महोत्सव हुआ था और जिसमें एक श्रावकको दीक्षा देकर साधु बनानेकी खुशीमें लगभग २० हजार रुपयोंका पानी बना दिया गया है, हमारे इस कथनकी पुष्टिके लिए यथेष्ट है । कई दिनोंतक बम्बईकी सड़कोंपर जुलूसोंकी वह धूम रही कि सारा शहर जैनधर्मकी प्रभावनासे चकचौंधा गया ! यदि यह महोत्सव किसी महापुरुषकी— जैनधर्मके वास्तविक उद्धारककी— भक्तिसे प्रेरित होकर किया गया होता, तो भी

सन्तोष होता; पर सुनते हैं कि जिस महापुरु-
षको दीक्षा दी गई है वह निरा मूर्ख नहीं, तो
समझदार भी नहीं है! उसमें ऐसा कोई गुण नहीं
है जो आगे विकसित होकर जैनधर्मकी प्रभा-
वना करनेमें समर्थ हो। यह जानकर पाठकोंको
और भी आश्चर्य होगा कि इस उत्सवके प्रेरक
और अनुमोदक मुनि रत्नचन्द्रजी बतलाये जाते
हैं जो कि उक्त सम्प्रदायके साधुओंमें सबसे
बड़े विद्वान् समझे जाते हैं।

११ हिन्दी गौरव ग्रन्थमाला ।

इस समय हिन्दीमें अच्छे अच्छे ग्रन्थ प्रका-
शित करनेके लिए खासा उद्योग हो रहा है।
पाठक यह जान कर प्रसन्न होंगे कि सत्यवादीके
पूर्वसम्पादक पं० उदयलालजी काशलीवालने
अभी थोड़े ही समयसे 'हिन्दी-गौरव ग्रन्थमाला'
नामकी माला निकालनेका प्रारंभ किया है जिस
में अब तक तीन ग्रन्थ निकाल चुके हैं—
१ सफलगृहस्थ, अंगरेजीके प्रसिद्ध लेखक
हेल्सके निबन्धोंका अनुवाद। अनुवादक, बाबू
खूबचन्दजी सोधिया बी. ए. एल. टी। २ आरोग्य
द्विगदर्शन, महात्मा गाँधीकी गुजराती पुस्तकका
अनुवाद। अनुवादक, पं० गिरिधर शर्मा।
३ कांग्रेसके पिता मि० छूमकी जीवनी।
अनुवादक, बाबू दयाचन्दजी गोयलीय बी. ए. और
बाबू चिरंजीलालजी माथुर बी. ए.। पहले दोका
मूल्य ग्यारह ग्यारह आने और तीसरेका बारह आने
है। तीनों ही ग्रन्थ अच्छे और प्रत्येक मनुष्यके
पढ़ने योग्य हैं। ग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहकोंको
ये और आगे निकलनेवाले तमाम ग्रन्थ 'दो
तिहाई, मूल्यसे दिये जायेंगे। हम अपने हिन्दी-
प्रेमी ग्राहकोंसे सिफारिश करते हैं कि वे ग्रन्थ-

मालाके ग्राहक बनकर पण्डितजीके उत्साहको
बढ़ावें और विविध विषयके ग्रन्थोंको पढ़कर
अपने ज्ञानकी वृद्धि करें। पण्डितजीका ठिकाना
'चन्दावाड़ी पो० गिरगाँव, बम्बई' है।

१२ हिन्दीमें नये जैन पत्र ।

हिन्दीमें नीचे लिखे तीन जैन पत्रोंने जन्म
लिया है और हिन्दी भाषाभाषी जैनसमाजकी
सेवा करना प्रारंभ कर दिया है:—

१ जैन मार्तण्ड—जैन बालहितैषिणी सभा
हाथरसका मुखपत्र। सम्पादक, श्रीयुत मिश्री-
लाल सौगानी, हाथरस (अलीगढ़)। पृष्ठ ३६,
डिमाई अठपेजी। वार्षिक मूल्य १॥) रु० ।

२ जैनसंसार—श्वेताम्बर जैन बरार प्रान्तिक
सभाका मुखपत्र। सम्पादक, श्रीयुत कुण्णाल
वर्मा, जुबिली बाग, तारदेव, बम्बई। पृष्ठ ३६
रायल बारह पेजी। मूल्य १॥=)

३ मुनि—महावीर मुनिमण्डल, बोदबड़
(खानदेश) का मुखपत्र। सम्पादक, श्रीयुत विश्व-
भरदास गार्गीय, छावनी झांसी। पृष्ठ ३२ डिमाई
अठपेजी, मू० २) रु० ।

इनमें पहला दिगम्बर, दूसरा श्वेताम्बर
और तीसरा स्थानकवासी सम्प्रदायका पत्र है।
हम तीनोंका स्वागत करते हैं और चाहते हैं
कि तीनों ही चिरंजीवी होकर जैनधर्म और जैन-
समाजका कल्याण करनेमें समर्थ हों। तीनोंके
दो दो तीन तीन अंक निकल चुके हैं। पाठकों-
को एक एक नमूनेका अंक मँगाकर देख लेना
चाहिए और ग्राहक बनकर सहायता करना
चाहिए।

सहयोगी जैनमित्र पाक्षिकसे साप्ताहिक हो
गया है और अब सूरतसे निकलने लगा है।

१३ लालाजीकी ललाई ।

तीर्थक्षेत्रकमेटीके महामंत्री लाला प्रभुदयालजीको हमारे पाठक अच्छी तरह जानते हैं । पिछले अंकमें हमने उस लेखको अनुचित बतलाया था जो उन्होंने बाबू दयाचन्द्रजी गोयलीयके हिसाब पूछने पर जैन-मित्रमें प्रकाशित कराया था । हमने यह भी लिखा था कि जैनमित्रमें जो लेख छपा है, वह ब्रह्मचारीकी कृपासे ज्योंका त्यों नहीं छपा । उन्होंने उस लेखको बहुत ही ठंडा करके छपा है; असली लेखमें गोयलीयजी पर बहुत बुरी तरहसे आक्रमण किया गया था । इस पर ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी पर, देखिए, लालाजी किस तरह लाल हुए हैं—

“ मित्रसंपादककी कुटिलाई ।

‘ जैनमित्र ’ बंबई प्रांतिक सभाका एक मुख्य पत्र है । ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी उसके संपादक हैं । आपका हृदय ऊपरसे तो स्वच्छ और सरल मालूम पड़ता है, परंतु उसके भीतरमें न मालूम किस कषाय-पिशाचिनीके कारण कूट-नीतिने प्रवेश कर रक्खा है । यह कहना भी अनुचित न होगा कि आप भी उन अष्टपंथियोंकी हार्में हार् मिलाबनेवाले हैं जो कि विधवा-विवाह आदि ऐसे निषिद्ध कार्योंके पोषक हैं । इसीसे तो जो लेख विधवाविवाह ब्रदरहुड आदि कार्योंके विरुद्ध आपके पास जाता है उसे या तो आप छापते ही नहीं या उसमें काट छांट कर डालते हैं । आश्विन मासमें एक लेख जातिप्रबोधक पत्रके किये हुए तीर्थक्षेत्र कमेटीके आक्षेपोंके जवाबमें आपके पास भेजा गया था । उसमें आपने कुछ काट छांट कर छापनेकी सम्मति मांगी; और इसी लिये देखनेको वह लेख भी लौटा भेजा । परंतु हमको वह काट छांट मंजूर न थी इसलिये हमने फिर वह लेख उनके पास छापनेको न भेजा । परंतु अफसोसका विषय तो यह है कि जिस लेखको हमने काट छांट कर छपाया नहीं, और उन्होंने अपने संपादकीय बलसे उसे छपा नहीं; फिर भी उस लेखकी कुछ बातको लेकर जैनहितैषीने हमारे ऊपर आक्षेप किया है, जिसमें कि लेखकका नाम छिपाया गया है । बड़े अफसोस और शर्मकी बात है कि आप सत्यव्रती ब्रह्मचारी कहलाते

हुए व्यभिचारियों जैसा कार्य करें । अगर हमारे लेखके कुछ अंशको लेकर ही लिखना या दूसरे-से लिखाना था तो हमारा पूरा लेख छप कर फिर उसके ऊपर जी चाहे जैसा आक्षेप करते । और फिर देखते कि कैसा मुंह तोड़ जवाब दिया जाता है । लेकिन आप ऐसा करते ही क्यों, आपको तो अपनी कूट नीतिका परिचय देना था । मालूम होता है कि इसी लिये बिना छपे हुए लेखका आप नहीं तो दूसरों द्वारा प्रतिवाद कराया, सो भी मन माना, और जैनहितैषीमें ! जिसको कि बम्बई प्रांतिक सभाके तिरस्कार करनेसे हम लोग खरी-दते नहीं । मगर तौ भी आप याद रखिये कि वह जैसा लेख है वैसा ही मजेदार मखमली जवाब भी दिया जायगा । परंतु कृपानिधान ब्रह्मचारी जी ! पहलेसे ही तुम्हारे ब्रह्मचर्यमें कुछ इल्ली लग रही है । अब ज्यादा इन अन्याय-पोषक कार्याध्यक्षोंके सम्मिलित हो अपने चारित्र्यमें सिवाल और जंग न चढ़ाइये । नहीं तो इसका जो कुछ परिणाम होगा वह आपके लिये और इस भेषके लिये अत्यन्त शोचनीय और लज्जाप्रद होगा । किम-धिकम् । मु० लखनऊ, ता० १७-११-१६ ।

समाजसेवक, भागमल प्रभुदयाल, महामंत्री भा० व० दि० जैन ती० क्षे० कमेटी ।”

१ इस लेखमें जो यह कहा गया है कि ब्रह्मचारीजीने दूसरों द्वारा (अर्थात् जैनहितैषी द्वारा) प्रतिवाद कराया है, सो सर्वथा असत्य है । ब्रह्मचारीजी उन दिनों बड़ौदेमें थे जब लालाजीका लेख उनके पास गया था । उन्होंने लेखको काट छांटकर बम्बई भेज दिया था और यहीं आकस्मिक रीतिसे उसका हमको पता लग गया था । इसमें न उनका कोई दोष था और न दफ्तरके आदमियोंका । हमारे और ब्रह्मचारीजीके विचारोंमें बहुत बड़ा अन्तर है । उनकी यह नीति है कि किसीकी बुराई न की जाय, किसीपर आक्षेप न किया जाय और हमारी यह नीति है कि बात साफ साफ और सत्य कही जाय, चाहे वह किसीकी बुरी लगे चाहे भली । ऐसी दशामें यह संभव नहीं कि वे हमारे द्वारा किसीकी बातका प्रतिवाद करावें ।

२ लालाजी कहते हैं कि 'जैनहितैषीको हम लोग बम्बई प्रान्तिक सभाके तिरस्कार करनेसे खरीदते नहीं।' मानों प्रान्तिक सभाके प्रस्ताव करनेके पहले आप हितैषीको खरीदते थे, अथवा जैनसमाजके सारे ही पत्रोंके आप खरीददार हैं। लालाजी साहब, जैनहितैषीके खरीदनेके लिए सिर्फ रुपये ही खर्च नहीं करने पड़ते, कुछ अक्लकी भी जरूरत होती है। उसके लेखोंके समझनेके लिए बुद्धि चाहिए और उसके भावोंको धारण करनेके लिए विस्तृत हृदय चाहिए। वह न आप जैसोंके लिए निकलता है और न आपकी और आपकी प्रान्तिक सभाकी कुछ परवा ही करता है। जैनसमाजमें सब आपके ही भाईबन्द नहीं हैं। कुछ ऐसे भी सहृदय और विचारशील हैं जो हितैषीको प्यारकी दृष्टिसे देखते हैं और उसके लिए जो परिश्रम किया जाता है—जो स्वार्थत्याग किया जाता है उसकी कदर करते हैं। उन्हींके लिए यह निकलता है। आप जैसोंके सत्कार और तिरस्कार उसकी दृष्टिमें निस्सार हैं। यदि हितैषीमें कुछ 'सार' है और वह समाजसेवाकी आन्तरिक प्रेरणासे सम्पादित होता है तो उसे हजारों पढ़नेवाले मिल जायेंगे।

३ हाँ, वह मजेदार और मखमली जवाब तो आपने अबतक न दिया। हम देखना चाहते हैं कि वह, ब्रह्मचारीजीको जैसा जवाब दिया गया है, वैसा ही है अथवा कुछ और ही 'मजा' रखता है। उससे पता लग जायगा कि आप 'मजेदार' किसे कहते हैं। जिस लेखमें गालियोंके सिवाय कुछ भी न हो, जान पड़ता है आप उसे ही 'मजेदार' कहते हैं। परवा नहीं, आप अपनी इच्छा पूरी कर लीजिए। तीर्थक्षेत्रकमेटीके इस महामान्य पदको पाकर कहीं ऐसा न हो कि आप किसी 'मजे' से ध्वित रह जायँ।

४ चौथी बात हम तीर्थक्षेत्रकमेटीके मेम्बरोसे कहेंगे कि आप लोग अपने इन मानोंते महामंत्रीजीके मुँहमें कुछ लगाम भी लगायेंगे, या इसी तरह बकते रहने देंगे। केवल एक हिसाबके पूछनेसे इन्होंने वाबू दयाचन्दजीको मनमानी गालियाँ देनेका प्रारंभ किया

और उन्हें भ्रष्टपंथी अदि विशेषण दे डाले और ज्योंही उसमें रुकावट डाली गई कि ये ब्रह्मचारीजी जैसे समाजसेवकोंको सीधी गालियाँ सुनाने लगे। तुम व्यभिचारियों जैसा काम करते हो, तुम्हारे ब्रह्मचर्यमें इल्ली लग गई है, आप अपने चरित्रमें सिवाल और जंग न चढ़ाइए, ये सब असभ्यों जैसी गालियाँ नहीं तो और क्या हैं? किसी सार्वजनिक संस्थाका—उस संस्थाका जिसमें कि गरीब और अमीर सभीने अपनी गाड़ी कमाईका कुछ न कुछ हिस्सा दिया है—हिसाब पूछना क्या कोई अपराध है? जो संस्थाओंका काम करते हैं उन्हें तो सब तरहसे शान्त और क्षमावान् होना चाहिए। वे इस तरह बात बातमें उखड़ पड़ेंगे तो काम कैसे चलेगा। अभी तो लोग कमेटीके हिसाब प्रकाशित न करनेके ही कारण आक्षेप कर रहे हैं, यदि आगे कोई यह कह बैठे कि कमेटीके हिसाबमें भी हमें सन्देह है, अथवा कमेटीका कुछ धन उसके कार्यकर्ता अपने उपयोगमें ले आते हैं, तो मालूम नहीं, कमेटी अपने इन लाड़ले लालाजीसे लोगोंको कितनी गालियाँ दिलवावेगी और इस कामके लिए पेम्पलेट आदि छपानेमें कितने रुपये बरबाद करावेगी। इस तरहकी एक बात हमको मालूम भी है, जिसके कारण लोग कमेटी पर सन्देह कर सकते हैं और दुर्भाग्यवश वह लालाजीके ही सम्बन्धमें है। गतवर्षके कार्तिकमें जम्बू स्वामीके मेले पर तीर्थक्षेत्रकमेटीका जो अधिवेशन हुआ था, उसमें कमेटीका हिसाब सुनाया गया था और उसमें लाला प्रभुदयालजी महामंत्रीके नाम ३०००) तीन हजार रुपये निकाले गये थे। लालाजीने यह रकम कोई तीन चार महीने पहले कमेटीके खजानेसे उठा ली थी। इस तरह लगभग षेड़ वर्षसे यह रकम लालाजीके नामें पड़ रही है। तीर्थक्षेत्र कमेटीकी रिपोर्ट कोई दो वर्षसे प्रकाशित नहीं हुई है। इसलिए हम नहीं कह सकते कि यह रकम घसूल हुई है या नहीं। पर जहाँ तक सुना ब्या है, लालाजी इसे दे नहीं सके हैं और शायद इसके सिवाय भी उन्हींने कुछ रकम और लेली है। यह एक ऐसी बात है जिसपर लोग आक्षेप कर सकते हैं और कमेटीसे इसका जवाब तलब कर सकते हैं। पर क्या कमेटीका यह कर्तव्य

नहीं है कि वह ऐसी बातोंका उत्तर अपने भाइयोंको शान्तिके साथ देवे ? यदि वह इचका उच्चर देनेके लिए लालाजीको ही छोड़ देगी, तब तो उनकी कृपासे ब्रह्मचारीजीके समान चाहे जिसकी इज्जत धूल फाँकती फिरेगी । कमेटीके मेम्बर महाशयोंको चाहिए कि वे लालाजीको यह समझा दें कि कमेटीके कोषमें गरीब और अमीर सभीने चन्दा दिया है, और उन सबने ही कमेटीको बनाया है, अतः कमेटी उनकी स्वामिनी नहीं हो सकती । प्रत्येक जैनी-भ्रष्ट और धर्मात्मा, तरह-पंथी और बसिपंथी, पण्डितपंथी और बाबूपंथी- आपसे हिसाब पूछ सकता है और आप पर झूठा या सच्चा सन्देह भी कर सकता है। आपका काम उसका समाधान कर देना है, गालियाँ देना या उलटी सीधी बातें सुनाना नहीं। यदि लालाजी यह न समझें और थोड़ासा काम करनेके कारण अपनेको 'महापुरुष' या 'पट्टधर' समझ बैठे हों, तो कमेटीको उनका यह सुखस्वप्न शीघ्र ही भंग कर देना चाहिए। इस्तीफा माँगकर उन्हें आदरपूर्वक अलग कर देना चाहिए और किसी ऐसे सज्जनको यह काम सौंपना चाहिए जो आपको समाजका सेवक समझता हो। कमेटीकी इज्जतमें इससे बड़ा लगता है कि उसके महामंत्री इस तरह गालियाँ बकनेवाले तुच्छ हृदयके आदमी हैं।

१४ जैनी भाइयोंका हिन्दीप्रेम ।

हिन्दी-साहित्यसम्मेलन हिन्दीकी उन्नतिके लिए स्थापित हुआ है। वह हिन्दीभाषाभाषी प्रत्येक मनुष्यकी वस्तु है, उसमें धर्मभेद नहीं है। हर्षका विषय है कि हमारे जैनी भाई भी इस बातको समझ गये हैं और उन्होंने अबके जबलपुरके सप्तम हिन्दी साहित्यसम्मेलनमें सन्तोषजनक योग दिया है। सार्वजनिक कार्योंमें अपने भाइयोंको इस तरह योग देते देखकर हमें बहुत ही सन्तोष होता है। लखनऊसे बाबू दयाचन्दजी गोयलीय बी. ए., सागरसे बाबू खूबचन्दजी सोधिया बी. ए. एल. टी., नरसिंहपुरसे बाबू माणिकचन्दजी कोचर बी. ए. एल. एल. बी., खंडवेसे बाबू माणिकचन्दजी बी. ए. एल. एल. बी. और सेठ तेजकरनजी, कटनीसे बाबू भैयालालजी, गोटगाँवसे बाबू सुलायमचन्दजी, भोपालसे बाबू मोतीलाल

जी, बम्बईसे पं० उदयलालजी, बाबू छगनमलजी, और इन पंक्तियोंका लेखक, वर्धासे सेठ चिरजीलालजी बड़जात्या, रहलीसे बाबू दयाचन्दजी बजाज, दमोहसे बाबू भैयालालजी चौधरी आदि अनेक सज्जन सम्मेलनमें शामिल हुए थे। खण्डवेसे और भी कई जैनी भाई आये थे जिनके नाम हम नहीं जानते। जबलपुरके वकील बाबू कन्हेदीलालजी और बाबू कस्तूरचन्दजीने सम्मेलनकी जीजानसे सेवा की थी। दिगम्बर जैन बोर्डिंग हाउसकी विशाल इमारत सम्मेलनके प्रतिनिधियोंके ठहरनेके लिए दी गई थी। हिन्दी पुस्तकोंकी प्रदर्शनी भी जैन बोर्डिंगमें ही खोली गई थी। जबलपुरके प्रसिद्ध धनी और अगुआ सिंगई गरीबदासजी आदिका भी सम्मेलनसे हार्दिक प्रेम था। स्वागतकारिणी कमेटीके चन्देमें भी जबलपुरके जैनी भाइयोंने चन्दा देनेमें आनाकानी नहीं की। खण्डवेके बाबू माणिकचन्दजी वकील स्वागतकारिणी कमेटीके एक प्रधान कार्यकर्ता थे। उनके प्रयत्न और उत्साहसे खण्डवेके कुछ विद्यार्थियोंने 'कृष्णार्जुन युद्ध' नामका हिन्दी नाटक खेला जो बहुत ही पसन्द किया गया और जिसकी सारी आमदनी सम्मेलनको दे दी गई।

इस सम्मेलनके पहले झाँसीमें एक प्रान्तीय हिन्दी सम्मेलन भी हुआ था। सहयोगी 'मुनि'से मालूम हुआ कि उसमें भी लखनऊके बाबू अजितप्रसादजी वकील, बाबू दयाचन्दजी, बाबू गुलाबचन्दजी, इटावेके बाबू मदनलालजी वकील, और सेठ चान्दमलजी, प्र० विश्वंभरदास गार्गीय सेठ मिलापचन्दजी आदि झाँसी निवासियोंने विशेष योग दिया था।

आशा है कि हमारे भाइयोंका यह हिन्दीप्रेम दिन पर दिन बढ़ता ही जायगा और वे आगामी सम्मेलनमें जो इन्दौरमें होनेवाला है इससे भी अधिक योग देंगे।

१५ हिन्दी-साहित्यसम्मेलनकी परीक्षामें जैन विद्यार्थी ।

हिन्दी-साहित्यसम्मेलनकी ओरसे एक परीक्षालय स्थापित हुआ है जिसकी ओरसे प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा, ये तीन परीक्षायें ली जाती हैं। कई बड़े

बड़े शहरोंमें इसके परीक्षाकेन्द्र नियत हो गये हैं । हमारे हिन्दीप्रेमी पाठकोंमेंसे भी कोई सज्जन जैन विद्यार्थियोंके लिए इस प्रकारके पारितोषिक देनेकी लोकप्रियता प्राप्त की है, इसका अनुमान पाठक इसीसे कर लेंगे कि इस वर्ष इसकी केवल प्रथमा परीक्षामें ही १४० विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए हैं जिनमें १२ स्त्रियाँ और लड़कियाँ भी हैं । मध्यमाके परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियोंकी संख्या हमें मालूम नहीं है । इन परीक्षाओंका पठनक्रम देखकर हमारी धारणा हुई कि यदि जैनविद्यार्थी, विशेष करके संस्कृतके विद्यार्थी, इन परीक्षाओंके पाठ्यग्रन्थ पढ़ लें तो बहुत उपकार हो । संस्कृतके छात्र हिन्दी साहित्य, व्याकरण, इतिहास, गणित, भूगोल, विज्ञान, आदिसे कोरे रहते हैं और इस कारण न उनका ज्ञान ही विस्तृत और समयोपयोगी होता है और न उन्हें हिन्दी लिखना ही आता है । इससे समाजका उनके द्वारा कोई भी काम अच्छी तरह नहीं होसकता है । यदि वे केवल प्रथमाके ही ग्रन्थ पढ़ लें और परीक्षा दे लें, तो बहुत लाभ हो । यह सोचकर हमने गत वर्ष एक विज्ञापन निकाला था कि जो जैनविद्यार्थी हिन्दीकी प्रथमा परीक्षामें उत्तीर्ण होंगे, उन्हें प्रत्येकको २०) बीस रुपया पारितोषिक दिया जायगा । हर्षकी बात है कि इससे उत्साहित होकर कई जैनविद्यार्थी प्रथमापरीक्षामें बैठे और उनमेंसे मदनलाल, निर्मलप्रसाद गार्गीय, गोविन्ददास, नन्दकिशोर, मुख्तारसिंह, दौलतराम और नानूराम ये सात विद्यार्थी उत्तीर्ण होकर उक्त पारितोषिक प्राप्त करनेके अधिकारी हुए हैं । परन्तु इनमें संस्कृतकी विद्यार्थी शायद कोई भी नहीं है, यह जान कर हमें बहुत आश्चर्य हुआ । हमारी कई संस्कृत पाठशालाओंके विद्यार्थी कलकत्ता, बनारस और पंजाबयूनीवर्सिटीकी संस्कृतपरीक्षाये दिया करते हैं । हमारी तुच्छबुद्धिमें उनकी अपेक्षा यह परीक्षा बहुत ही उपयोगी और लाभकारी होगी । यदि पाठशालाओंके संचालक चाहें, तो वे इस विषयमें अपने छात्रोंको उत्साहित भी कर सकते हैं । पठनक्रम और नियमावली आदिकी पुस्तिका सम्मेलन कार्यालय प्रयागसे तीन आनेके टिकट भेजनेसे मिल सकती है । आगामी वर्षके लिए हम फिर भी कुछ पारितोषिक नियत करेंगे, जिसकी सूचना कुछ समय बाद दी जायगी । यदि

हमारे हिन्दीप्रेमी पाठकोंमेंसे भी कोई सज्जन जैन विद्यार्थियोंके लिए इस प्रकारके पारितोषिक देनेकी कृपा करें, तो बहुत लाभ हो । हमें आशा है कि आगामी वर्ष इससे भी अधिक जैन छात्र इस परीक्षामें बैठेंगे और उत्तीर्ण होंगे ।

१६ एक पाँच सौ रुपयेका पारितोषिक ।

सप्तम हिन्दीसाहित्यसम्मेलन जबलपुरके सभापतिको जैनहितैच्छुके सम्पादक श्रीयुत वाडीलाल मोतीलाल शाहने तारद्वारा इस प्रकारकी सूचना दी थी कि “ जगत, जीवन और वर्ताव (काडेक्ट) इन विषयोंपर जैनफिलासफी, वेदान्त फिलासफी और जर्मन फिलासफर फ्रेडरिक निट्शेकी फिलासफीके जो सिद्धान्त हैं उनका समन्वय (कम्प्रोमाइज) करके एक हिन्दी निबन्ध लिखनेवाले सर्वश्रेष्ठ लेखकको नकद ५०० रुपयेका पारितोषिक सम्मेलनकी मार्फत दिया जायगा । लेखपरीक्षकोंमें एक नाम भेरा भी रहेगा ।” आशा है कि हमारे जैन प्रेज्युप्टोंका ध्यान इस ओर जायगा और वे इस पारितोषिकको प्राप्त करनेका यत्न करेंगे । इस विषयमें विशेष पूछताछ करनेके लिए शाह महाशयसे ‘ नागदेवी स्ट्रीट बम्बई ’ के ठिकानेसे पत्रव्यवहार करना चाहिए ।

१७ बागड़में कन्याविक्रय और अपव्यय ।

थान्दलानिवासी श्रीयुक्त टीकमचन्दजी तलेरा लिखते हैं कि “ मैं...में कार्यवश आया हुआ हूँ । यहाँ हालमें तीन चार सगाइयाँ हुई हैं । तलाश करनेसे मालूम हुआ कि लड़कियोंके मा-बाप अच्छे व्यापारी हैं, तो भी उनमेंसे एकने २२०० रु०, दूसरेने २००० रु० और तीसरेने १८०० रु० वरपक्षवालोंसे लिये हैं । यहाँ एक और सेठ हैं जो कई सभाओंके सभापतिका आसन सुशोभित कर चुके हैं । आपके पास पूँजी तो पाँच सात हजारहीकी है; परन्तु अपने दश वर्षके लड़केकी शादीमें—जो कि शीघ्र ही होनेवाली है—आप कर्ज लेकर कोई दस हजार रुपये खर्च करनेवाले हैं । खूब तैयारियाँ हो रही हैं ।” जब तक कन्याओंकी संख्या समाजमें थोड़ी है, विवाहका क्षेत्र अगणित जातियोंके कारण संकर्ण है और एक एक पुरुषको बुढ़ापे तक कई कई शादियाँ

करनेकी स्वतंत्रता है तब तक कन्याविक्रय बन्द नहीं हो सकता। यह अर्थशास्त्रका नियम है कि जो वस्तु कम पैदा होती है और जिसके प्राहक बहुत होते हैं वह अवश्य बहुमूल्य हो जायगी। इसमें पापका डर बतलाना, अधर्म दिखलाना और उपदेश देना प्रायः निरर्थक है। बहुत थोड़े लोग ऐसे हैं जो कन्याविक्रयको अधर्म समझकर छोड़ सकते हैं। शेष लोग तो तब छोड़ेंगे जब कन्यायें सुदुर्लभकी जगह सुलभतर हो जायँगी। अपव्यय या फिजूलखर्चका कारण अज्ञानता है। ऐसे लोग अपनी करनीका फल भोगकर स्वयं ही सुधर जाते हैं और दूसरोंको सचेत कर देते हैं। यदि इन्हें देशकी दरिद्रताका, किसानों मजदूरों और शिल्पव्यवसायियोंकी दुर्दशाका ज्ञान कराया जाय और इनके आगे देशके प्रतिदिन आधा पेट रहकर सो जानेवाले १५ करोड़ भारतवासियोंका चित्र खड़ा किया जाय, तो संभव है कि इनकी आँखें खुल जायँ और ये अपने लड़कोंकी शादामें नहीं किन्तु देशके दुःखियोंकी दशा सुधारनेमें अपने धनको लगाने लगें।

१८ मुकद्दमेमें जीत किसकी हुई ?

‘ जो कुछ होता है सब अच्छेके लिए होता है, ’ इस कहावतमें बहुत कुछ सत्य समाया हुआ है। मेरी प्रार्थना यदि सर्वथा स्वीकार कर ली जाती और देशके नेताओंके द्वारा शिखरजीके मुकद्दमेका फैसला कराया जाता तो संभव है कि अपने उचित अधिकारसे अधिक प्राप्त करनेकी आशा रखनेवाले दोनों ही पक्ष यह कहने लगते कि, “ यदि हम सरकारी कोर्टके द्वारा और उसके ऊपरकी कोर्ट द्वारा फैसला कराते, तो अवश्य जीतते। हमने बड़ी गलती की जो आन्दोलन करनेवालोंकी बात मान ली। इसमें हम ठगाने गये। ” प्रकृतिका यह नियम है कि दिनका महत्त्व रातके बिना, सुखका महत्त्व दुःखके बिना और असलूका महत्त्व नकलीके बिना नहीं मालूम होता। सोभाग्यसे इसी समय हजारीबागकी कोर्टसे शिखरजीके मुकद्दमेका फैसला हो गया। इस फैसलेमें दोनोंही पक्षपर अपनी माया फैलाई है।

जिससे कि दिखलानेके लिए तो दोनों ही पक्षवाले जगत्की रंगभूमि पर अपनी अपनी जीतकी प्रसन्नताका राग अलापते हुए उछल रहे हैं; पर वास्तवमें दोनोंका ही हृदय ‘ हार ’ की अभुधाराओंसे भीग गया है। यद्यपि दोनोंका ही हृदय कहता है कि हमारी माँगें रद्द कर दी गई हैं—हम जो चाहते थे वह नहीं हुआ है, तो भी बाहरसे जीतकी दुन्दुभी वजानमें दोनोंको ही कुछ संकोच नहीं हो रहा है।

श्वेताम्बरियोंकी इच्छा यहाँ तक थी कि पर्वतकी सारी मालिकी केवल हमारे हाथमें रहे और हमारे सिवाय वहाँ कोई भी पूजन न कर सके। परन्तु कोर्टने आज्ञा दी कि २१ टोंकोंपर पूजन करनेका दिगम्बरियोंको भी स्वत्व है, और इस तरह श्वेताम्बरोंकी इच्छा पूर्ण न हुई। इधर जलमंदिरपरसे और चार टोंकोंपरसे दिगम्बरियोंका हक उड़ गया है। ‘ जैनप्रभात ’ के सम्पादकने स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि “ हमने स्वयं जलमन्दिरमें दिगम्बर मूर्तिकी पूजा की है और इन्दौर हाईकोर्टके जज श्रीयुत जुगमंदरलालजी एम. ए. बार-एट-ला ने भी तीन बार जलमन्दिरकी दिगम्बर-मूर्तियोंकी पूजा की है। इतना ही नहीं बल्कि जिन परसे हमारा हक उठा दिया गया है उन चारों टोंकोंकी पूजा भी जज साहबने श्वेताम्बरियोंकी किसी रोक टोकके बिना तीन बार की है। ” इस तरह दिगम्बरसमाजने एक तो अपना पूजनका हक खो दिया और अब इस मुकद्दमेका आधा खर्च भी उसे देना पड़ेगा। इससे यह बात सहज ही समझमें आ जायगी कि वास्तवमें दोनों ही पक्षोंकी हार हुई है और दोनों ही मन-ही-मन पछता रहे हैं। तथापि इधर उधरसे दबी हुई आवाज सुन पड़ती है कि दोनोंही पक्षवाले आगेकी कोर्टमें अपील करेंगे। मुझे विश्वास नहीं है कि कोर्टके फैसलेका यह कड़ुआ फल चखकर, दोनों पक्षोंके अगुए-समझदार होकर भी-फिरसे इस प्रकारकी गलती करनेके लिए तैयार हो जायँगे। इसमें लाखों रुपया खर्च होनेके सिवाय अगुओंका बहुत ही बहु-मूल्य समय व्यर्थ बरबाद होता है। भाई भाई लड़ते

हैं और उनके दिल दिनपर दिन एक दूसरेसे हटते जाते हैं जिनके कि जोड़नेके लिए न जाने कितने समय और श्रमकी जरूरत होगी । और यह सब होने पर भी कोर्टोंसे तो इस प्रकारकी आशा ही नहीं की जा सकती कि दोनों पक्षोंको सन्तुष्ट करनेवाला न्याय कभी मिल जायगा । इसलिए मैं दोनों पक्षोंके धर्मात्मा और धनी नेताओंसे एक बार फिर प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग शिखरजी तथा अन्य तीर्थोंके झगड़ोंका फैसला या तो आपसमें ही कर लें या देशके अगुओंमेंसे एक दो सज्जनोंकी चुनकर उनके द्वारा करानेकी तजवीज करें । दोनों पक्षोंके सुधी श्रावकों, धनियों और साधुओंको चाहिए कि वे भरे इस शान्तिके आन्दोलनको नया बल प्रदान करें और जब तक यह पूर्ण रीतिसे सफल न हो जाय, तब तक चुप न बैठें । मुझे विश्वास है कि वे अपनी परोपकारिणी बुद्धि और शक्तिका इस कार्यमें अवश्य उपयोग करेंगे । अन्तमें कुल विचारणीय बातोंकी फिरसे याद दिलाकर मैं विश्राम लेता हूँ,—

जिन्हें स्वराज्य जैसे महान् राजकीय अधिकारोंके प्राप्त करनेकी इच्छा हो उन्हें कमसे कम अपनी इतनी योग्यता और पात्रता तो अवश्य दिखलाना चाहिए कि अपने घरू झगड़े बखड़े आपसमें ही तय कर लिये जायँ,

दोकी लड़ाईमें सदा तीसरेका ही भला होता है,

धर्मके लिए धर्मके नामसे कलह करना अधर्म है और वह सर्वथा त्याज्य है ।

निवेदक,—वाडीलाल शाह ।

१९ नये वर्षकी सूचना ।

इस अंकके साथ हितैषीका १२ वाँ भाग समाप्त होता है । इसके बादका अंक तेरहवें भागका निकलेगा और वह ग्राहकोंकी सेवामें तान रूपया एक आनेके वा. पी. से पहुँचेगा । उपहारमें 'मणिभद्र' नामका एक सुन्दर उपन्यास दिया जायगा जो तैयार कराया जा रहा है । यह कद-

नेकी जरूरत नहीं कि उपहारका ग्रन्थ सदाकी अच्छा और शिक्षाप्रद होगा तथा कमसे कम आने मूल्यका होगा । यह निश्चय नहीं है कि पक्षके तैयार होनेतक उपहार भी तैयार हो जायग यदि तैयार हो सका, तो साथ ही गाना कर दि जायगा, नहीं तो अकेला अंक वा. पी. भेजा जायगा ।

वा. पी. इस वर्षके तमाम ग्राह. कि नाम वि जायगा, किसीकी आज्ञाकी राह न देखी जायगी । महाशय आगामी वर्षमें ग्राहक न रहना चाहें उ कृपाकरके इस अंकके पहुँचते ही तैयार एक कार्डनु सूचना कर देनी चाहिए ।

पिछले वर्ष जो एक और उपहार देनेकी सूच दी गई थी वह अभीतक लिखा नहीं गया है । लेख महाशयको अभीतक अवकाश नहीं मिला है । य प्रयत्न करनेसे तैयार हो गया तो वह भी इस व उपहारके साथ भेज दिया जायगा ।

हमारे सिरपर कामोंका बोझ इतना अधिक है । उसके मारे हम सदा ही दबे रहते हैं और बड़ी का नाईसे अवकाश निकाल पाते हैं । ऐसी दशामें जै हितैषीका समय पर निकालना हमारे लिए एक तरह असंभव है । अतएव जो महाशय हमारे इस दोष क्षमा कर सकते हों, हितैषी महीने, दो महीने, अं तीन महीनेमें जब निकले तभी प्रसन्नतापूर्वक प नेका धैर्य रख सकते हों, वे ही ग्राहक रहनेकी कृ करें । हम केवल इस बातका वादा कर सकते हैं । वर्षभरमें जितने पृष्ठ निकलने चाहिए उससे दो च फार्म अधिक ही निकाल देंगे, कम नहीं, जैसे इस व प्रतिज्ञासे ४८ पृष्ठ अधिक निकाले गये हैं । समयप निकालनेकी प्रतिज्ञा हमसे नहीं हो सकती । आशा है कि इस स्पष्टवक्तृत्वके लिए पाठक हमें क्षमा करेंगे ।